देश-विदेश

vfu; rd ky hu cqyfVu ①

मार्च 2006

सहयोग राशि : दस रुपये

सम्पादक

उमा रमण

सम्पर्क सूत्र: पो. बॉ. नं.- रुड़की-246667

ई-मेल: deshvidesh@rediffmail.com

इस अंक में

सम्पादकीय- बर्बरों का इन्तजार 1

अमरीकी साम्राज्यवाद के मन्सूबे और इराक युद्ध 4

समाचार-विचार

कलिंग नगर नरसंहार:
लाशों के ढेर पर विकास का ताण्डव 7

मजदूर वर्ग पर एक बड़े हमले की तैयारी 8

कोका कोला के खिलाफ संघर्ष 10

खाली पेट, भरे गोदाम 11

साधारण नमक बेचने और खाने पर रोक 12

नाभिकीय हथियार:
प्रसार-अप्रसार का अमरीकी स्वांग 13

लोकतन्त्र का मंदिर या सुअरबाड़ा 15

अलजजीरा और टेलीसूर:
साम्राज्यवादी वर्चस्व को चुनौती 16

बोलीविया में राष्ट्रपति चुनाव 17

माराडोना की वापसी 20

कैसा भारत महान 22

क्लिनिकल परीक्षण:
दवा कम्पनियों की जानलेवा साजिश 23

किसानों की आत्महत्याएँ:
खेती के संकट से जुड़े कुछ अहम सवाल 25

संस्कृति: तुमने अपने लोगों पर थूका
और उन्होंने स्वागत में तालियाँ बजायीं 31

रोजा पार्क्स:
एक चिंगारी सारे जंगल में आग लगा सकती है 35

आतंकवाद 37

उमा रमण द्वारा कैपिटल ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली से मुद्रित कराकर चन्द्रकुमार, द्वारा- श्री सतीश वर्मा, न्यू मोहनपुरा, पोस्ट- मिलाप नगर, दिल्ली रोड, रुड़की-246667 से प्रकाशित किया गया।

सम्पादकीय

बर्बरों का इन्तजार

कविसी.पी.कवाफीकीएककविताकाशीर्षकहै–बर्बरोंकाइन्तजार।

कविता रोम के आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-सामरिक–सम्पूर्ण पतन के काल से सम्बन्धित है। कुलीन रोमनों के पास रोम को आगे ले जाने के लिए कोई कार्यसूची नहीं थी। उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ थे कि क्या करें? भोग-विलासिता, अकर्मण्यता, सब कुछ अपनी सीमा पार कर चुके थे। ऐसे ही एक समय का चित्रण करती है यह कविता।

कवि कवाफी लिखता है कि इस संकट के समाधान के लिए रोम के कुलीनतन्त्र के राजनीतिक रहनुमा यूरोप से बर्बरों के आने की मनोकामना कर रहे थे। रोम नगर की बाहरी प्राचीर के मुख्य द्वार पर उनका इन्तजार किया जा रहा था। जब काफी इन्तजार के बाद भी बर्बर नहीं आये तो उनके हाथ-पाँव फूलने लगे कि अब क्या होगा, वे (बर्बर) नहीं आये।

जब कोई सामाजिक व्यवस्था अपनी ऊर्जा खो चुकी होती है, मृतप्राय हो जाती है और उसे आगे जाने का कोई रास्ता नहीं सूझता तो वह बर्बरों का इन्तजार करती है।

बर्बर आये

नीचे लिखी कहानी में बर्बर आये और समस्या का समाधान हो गया।

इस कहानी में एक देश के शासक वर्ग और राजनीतिक रहनुमा एक ऐसे मुकाम पर पहुँच जाते हैं कि उन्हें आगे जाने का कोई और रास्ता नहीं सूझता, उनके पास कोई कार्यसूची नहीं रह जाती।

अपने हाथ में सत्ता की बागडोर लेने और समाज का नेतृत्व करने के 38 सालों के भीतर उनके पास कोई कार्यसूची नहीं रह गयी, उनकी समाज-व्यवस्था आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-शैक्षणिक-सांस्कृतिक-सामरिक पतनशीलता के गर्त तक पहुँच गयी, वे कुछ भी कर पाने में असमर्थ हो गए और अपने ऊपर उन्हें बिल्कुल भी भरोसा नहीं रह गया।

हालत यहाँ तक बिगड़ चुकी थी कि वे अपने लिए और अपने लोगों के लिए पीने के पानी का भी प्रबन्ध नहीं कर सकते थे, और तो क्या करते। तब वे बर्बरों का इन्तजार करने लगे।

5 साल की प्रतीक्षा के बाद बर्बर आये और उनकी सारी समस्याओं का समाधान करने लगे। वे खुद समस्या के समाधान में उनके सहयोगी और चाकर की भूमिका निभाने लगे।

इस कहानी का खुलासा

15 अगस्त 1947 को भारत के शासक वर्गों और उनकी राजनीतिक पार्टियों ने दूसरे वर्गों को पीछे ढकेलकर राजसत्ता पर अपना नियन्त्रण कायम किया और उस समय की अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों (भारत की विशिष्ट परिस्थितियाँ) के मुताबिक भारत में पूँजीवादी विकास का रास्ता चुना जिसे नेहरू के समाजवाद के नाम से जाना जाता है। यह समाजवाद और कुछ नहीं था, उस समय की परिस्थिति के अनुरूप पूँजीवादी विकास का ही एक रास्ता था।

देश के मुकम्मिल पूँजीवादी विकास के लिए दो महत्वपूर्ण शर्तें थीं। प्रथम, एक सम्पूर्ण और मुकम्मिल भूमि-सुधार। दूसरी, जनता का लोकतन्त्र। हालाँकि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक थे और एक के बगैर दूसरा सम्भव नहीं था लेकिन मुकम्मिल भूमि-सुधार जनता के लोकतन्त्र के लिए पहली शर्त थी। जनता का लोकतन्त्र उसके बाद ही स्थापित हो सकता था।

इससे जो क्रान्तिकारी ऊर्जा निकलती वह भारतीय समाज के हजारों साल के अस्वस्थकर, अप्रीतिकर और प्रतिगामी दर्शन व जीवन मूल्यों को जलाकर खाक कर देती। तब एक नये लोकतन्त्र का उदय होता। लेकिन भारतीय शासक वर्ग ने ऐसा नहीं किया। ऐसा करने की इनकी मंशा भी नहीं थी।

संविधान सभा के निर्माण से यह जाना जा सकता है। राजा-महाराजाओं, पूँजीपतियों तथा उनके उच्च पदस्थ बुद्धिजीवियों और नौकरशाहों को लेकर जो संविधान सभा बनायी गयी। उसमें जनता की कोई भागीदारी नहीं थी। वह लोकतन्त्र की वाहक नहीं हो सकती थी।

भूमि-सुधार का काम भी विरोधी वर्गों से समझौता और समर्पण करते हुए आधा-अधूरा ही किया गया। ब्रिटेन के पूँजीवादी लोकतन्त्र की संस्थाओं को बिना कलम किये ही यहाँ रोप दिया गया। ब्रिटेन में ये संस्थाएँ क्रान्तिकारी काल में एक खास दौर की आवश्यकता से पैदा हुई थीं और उनकी एक सकारात्मक भूमिका भी रही थी। लेकिन 20वीं सदी के प्रारम्भ में ही वहाँ इन संस्थाओं की अप्रासंगिकता सिद्ध हो चुकी थी।

हमारे देश में ये अस्वस्थ और रुग्ण संस्थाएँ लोकतन्त्र की वाहक नहीं बल्कि उसमें बाधक बन गयीं। भारत के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे पर जिन भी संस्थाओं का निर्माण हुआ, चाहे वे कृषि में सुधार के लिए कायम की गयी नाना प्रकार की सहकारी संस्थाएँ (को-आपरेटिव) हों, राजनीतिक संस्थाएँ हों, विश्वविद्यालय और तकनीकी शिक्षा संस्थान हों, सांस्कृतिक संस्थाएँ हों या मूलाधार और अधिरचना की कोई अन्य संस्था– वे सभी स्वस्थ और मुकम्मिल पूँजीवादी विकास और लोकतन्त्र में बाधाएँ बनी रहीं।

ये संस्थाएँ थोड़े से लोगों–शासक वर्गों और उनके सामाजिक आधारों के निहित स्वार्थों की वाहक बन गयीं जो कुल आबादी में बमुश्किल 10-15% थे। जो भी विकास हुआ, वह 25-30% लोगों तक सिमटकर रह गया, उन्हीं को इसका फायदा मिला।

इस व्यवस्था में संकट के लक्षण 1952 से ही दिखाई देने लगे थे। 1958-59 आते-आते शासक वर्गों की योजनाओं की असफलता सामने आने लगी। '60 के दशक के मध्य तक आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक-सामरिक सभी क्षेत्रों में चौतरफा संकट शुरू हो गया।

पुराने रास्ते पर चलते हुए इस संकट का समाधान नहीं हो सकता था। इसके लिए क्रान्तिकारी समाधान की जरूरत थी जो वे कर नहीं सकते थे।

भारत का यह शासक वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टियाँ क्रान्ति की कोख से नहीं पैदा हुए थे। वे अपने जन्म से ही कायर, रुग्ण, मानसिक विकलांगता के शिकार और क्षुद्र स्वार्थों से ग्रस्त थे। उन्होंने बेरहमी से जनता को लूटा-पाटा और रोम के कुलीनों की तरह भोग और विलासितापूर्ण जीवन बिताने लगे।

लेकिन 1985 तक आते-आते उनका विकास अवरुद्ध हो गया, उन्हें आगे जाने का कोई रास्ता नहीं सूझा, वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गए, उनका आत्मविश्वास जाता रहा और हाथ-पाँव फूल गये– तब इसके समाधान के लिए बर्बरों को बुलाना ही इन्हें एकमात्र रास्ता लगा।

और बर्बर आये

दो शब्द इन बर्बरों के बारे में।

भारत की जनता के लिए आज के इन बर्बरों को जानना मुश्किल नहीं है क्योंकि यहाँ के लोग उनके पुरखों को अच्छी तरह जानते हैं।

अपने पुरखों की तुलना में बर्बर ज्यादा क्रूर, ज्यादा धूर्त, झूठ-छल और प्रपंच में ज्यादा होशियार और हर घृणित कार्रवाई में उनको मात देने वाले हैं।

इनके झण्डे पर लिखा है:

''सब कुछ लाभ के लिए, सब कुछ पूँजी की वृद्धि के लिए,

सब कुछ बाजार के लिए और सब कुछ बाजारमय।''

इनका कोई धर्म नहीं, कोई ईमान नहीं, अपना कोई विवेक नहीं।

अपनी पूँजी बढ़ाने और मुनाफा कमाने के लिए क्रूरतम और जघन्यतम अपराधों को अन्जाम देने से भी वे कभी नहीं हिचकते। पिछले 400 सालों का तीसरी दुनिया के देशों का इतिहास इनके नृशंसतापूर्ण अपराधों के खून के छींटों से भरा पड़ा है।

इनमें से एक अपराधी वारेन एण्डरसन को हिन्दुस्तान अभी भूला नहीं है। भोपाल के आस-पास आज भी लोगों की चीख और आहें सुनायी देती हैं। उस अपराधी को भारत सरकार ने अपने विशेष विमान से दिल्ली बुलाकर अमरीका भेजा था। अमरीका से लेकर भारत तक समूची न्याय प्रणाली और प्रशासन ने उसकी मदद की थी।

इन साम्राज्यवादी बर्बरों को आये अभी थोड़े ही दिन हुए हैं कि नोएडा, ओखला, गुड़गाँव, कलिंग नगर और ऐसी बहुत सारी जगहों पर लोगों पर लाठी-गोलियाँ बरसायी जाने लगी हैं ताकि बर्बरों का मुनाफा बढ़ाया जा सके, उनकी पूँजी में वृद्धि की जा सके और उनके उच्छिष्ट भोजन से यहाँ के शासक वर्ग और उसके राजनीतिक रहनुमाओं का पेट भरा सके।

वाशिंगटन, टोकियो, बोन, बर्लिन, लन्दन, पेरिस... सभी जगहों से आने वाले बर्बरों का एक ही उद्देश्य है– ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाओ, ज्यादा से ज्यादा लूटो, अपनी पूँजी बढ़ाओ। सबके झण्डे पर एक ही नारा है। हालाँकि कौन कितना लूटे इसको लेकर इनमें झगड़े जरूर हैं।

भारत का शासक वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टियाँ जनता को समझाती हैं– ये हमारे लिए सड़कें बनायेंगे, कारें बनायेंगे, कपड़ा-जूता-छाता, सब कुछ बनायेंगे, अच्छी पैकिंग में सुस्वादु और स्वास्थ्यकर खाना खिलायेंगे, हमें अच्छी दवाएँ देंगे, स्वच्छ हवा और साफ पानी पिलायेंगे।

अलग-अलग रंगों वाले राजनीतिक रहनुमा भारतीय जनता को यह समझाने में लगे हैं कि हम सड़कें नहीं बना सकते, कारखानों में उत्पादन नहीं कर सकते, यहाँ तक कि हम अपने पीने के लिए साफ पानी का भी इन्तजाम नहीं कर सकते। हम कुछ भी नहीं कर सकते। सब कुछ बर्बर ही करेंगे।

हमारे प्रधानमन्त्री ने ब्रिटेन में पी.एच.डी. की मानद उपाधि ग्रहण करते समय भाषण में कहा कि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने हमें अच्छा शासन करना सिखाया, हम तो कुछ भी नहीं जानते थे। इसलिए ये कृतज्ञ राजनीतिक पार्टियाँ उनकी लूट, मुनाफे और पूँजी की वृद्धि को अबाध जारी रखने के लिए उनके सिखाये गये तरीके से भारतीय जनता पर शासन करेंगी।

शासक वर्गों की राजनीतिक पार्टियों के छोटे-बड़े नेता, उनके अखबार, इलेक्ट्रानिक प्रचार माध्यम, उनके समूचे कार्यक्रम बर्बरों की प्रशंसा में गीत गाते रहते हैं, लोरी सुनाते रहते हैं ताकि भारतीय जनता उनको चुपचाप स्वीकार कर ले।

उनका कहना है कि ये बर्बर जितना भारतीय जनता का शोषण करेंगे, जितना ज्यादा हमें लूटेंगे, उतना ही देश तरक्की करेगा। हमें सिर झुकाकर उनकी गुलामी स्वीकार कर लेनी चाहिए, उन्हें लूटने देना चाहिए और ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिससे वे यहाँ से जाने के बारे में सोचें, वरना हम क्या करेंगे?

तरह-तरह के सिद्धान्तों की रचना की जा रही है, नयी मनु-स्मृतियाँ गढ़ी जा रही हैं, सोने और चाँदी के वर्क लगाकर उन्हें जनता के सामने परोसा जा रहा है। लेकिन जीवन उतना सीधा और सपाट नहीं होता, जीवन की गति बहुत ही विचित्र और विडम्बनापूर्ण होती है।

विख्यात जर्मन कवि गेटे के प्रसिद्ध काव्य नाटक फाउस्ट में एक चरित्र मेफिस्टोफिलिस कहता है:

''मेरे मित्र सिद्धान्त भूरा और बदरंग होता है जबकि सदाबहार है जीवन का चिरन्तन वृक्ष।''

भारत के लोगों को उपनिवेशवाद का 300 सालों का त्रासद अनुभव है, 1990 से 2006 तक नये आर्थिक उपनिवेशवाद का 15 सालों का अनुभव भी उनके पास है।

असली यानक ली को ई भी सिद्धान्त अगर जीवन के यथार्थ से टकराते हैं तो जिन्दगी उन्हें कूड़े दान में डाल देती है।

भारत की जनता भी यही करेगी।p

L L L L L

देश-विदेश का प्रवेशांक आपके हाथों में है। पत्रिका की विषयवस्तु और कलेवर के बारे में सुझावों और आलोचनाओं से इसे बेहतर बनाने में हमें आपका सहयोग मिलेगा। ऐसी उम्मीद है। अगले अंकों में पाठकों के विचारों को प्रमुखता से स्थान दिया जायेगा। ज्वलन्त सामयिक प्रश्नों पर आपके विचारों/रचनाओं का स्वागत है।

बस इतना ही, इससे आगे नहीं

अमरीकी साम्राज्यवाद के मन्सूबे और इराक युद्ध

—दिगम्बर

अमरीकी आधिपत्य के खिलाफ लड़ रहे इराक के प्रतिरोध-योद्धाओं और वहाँ की जनता ने विश्वविजय के उसके चक्रवर्ती घोड़े की लगाम पकड़ ली, उसको चारों खाने चित करके चारों टांगों को चार खूँटों से बाँध दिया और कहा– ''बस इतना ही, इससे आगे नहीं।''

अमरीकी साम्राज्यवाद ने जब इराक पर आधिपत्य जमाने के लिए आक्रमण किया तो उसके कई मन्सूबे थे। पहला, इराक के ऊर्जा-स्रोतों पर एकाधिकार कायम करना। दूसरा, इराक को स्प्रिंग बोर्ड बनाकर भूमध्यसागर के दोनों ओर के तथा मध्य एशिया के ऊर्जा भण्डारों पर एकाधिकार कायम करना। उसका तीसरा मन्सूबा था, अपनी आधुनिकतम उन्नत तकनीक और सामरिक शक्ति–जैविक हथियारों, क्षेत्रीय पैमाने पर इस्तेमाल होने वाले छोटे नाभिकीय हथियारों, अत्याधुनिक इलेक्ट्रानिक सामरिक हथियारों से लदे विमानवाही पोतों (एयर क्राफ्ट कैरियर) और पनडुब्बियों का नग्न प्रदर्शन और इस्तेमाल करके पूरी दुनिया पर आतंक का राज्य कायम करना, जिसमें साम्राज्यवादी समूह के भीतर उसके विरोधी–फ्रांस, जर्मनी और रूस तथा इच्छुक सहयोगी–ब्रिटेन, इटली इत्यादि भी आते हैं।

> ''इराक पर हमला एक डाकाजनी और राज्य आतंकवाद की निर्लज्ज कार्रवाई थी जो अन्तरराष्ट्रीय कानून की अवधारणाा की पूरी तरह अवमानना करती थी। यह हमला एक निरंकुश सैनिक कार्रवाई थी जो एक के बाद एक, झूठ की श्रृंखला गढ़ने तथा बड़े पैमाने पर मीडिया और उसके द्वारा जनमानस को अपने हिसाब से तोड़ने-मरोड़ने के जरिये प्रेरित की गयी थी। इसका उद्देश्य मध्य एशिया पर अमरीका का सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण मजबूत बनाना था। जब इस हमले के लिए कोई और बहाना काम नहीं आया तो मुक्ति के प्रपंच का सहारा लिया गया। एक सैन्य शक्ति द्वारा इससे विचित्र दावा और क्या हो सकता है जो हजारों-हजार निर्दोष लोगों को मौत के घाट उतारने और अपंग बनाने के लिए जिम्मेदार है।''
>
> **–हारोल्ड पिण्टर**
> **नोबेल पुरस्कार विजेता साहित्यकार**

अमरीका के ये साम्राज्यवादी मन्सूबे अब इराकी रेगिस्तानों में दफ्न हो चुके हैं। सभी तथ्य इस बात के स्पष्ट संकेत दे रहे हैं कि अमरीका इराक युद्ध हार चुका है और वहाँ से भागने का कोई ''सम्मानजनक'' तरीका खोज रहा है।

1971 में हो ची मिन्ह के नेतृत्व में वियतनाम की जनता ने अमरीकी साम्राज्यवाद को उसकी हैसियत दिखा दी थी, अमरीकी साम्राज्यवाद और उसके सामाजिक आधार को गहरी कुण्ठा से भर दिया था जिसे दुनिया वियतनाम ग्रन्थि (वियतनाम सिण्ड्रोम) के नाम से जानती है। डालर और सोने का सम्बन्ध समाप्त कर दिया गया, अमरीकी अर्थव्यवस्था चरमरा गयी और आतंकित अमरीका को रूसी साम्राज्यवाद से निपटने के लिए चीन से गँठजोड़ बनाने की आवश्यकता पड़ी।

अमरीकी थैलीशाहों को इससे सबक लेना चाहिए था और अपने विश्वविजय के मन्सूबों पर लगाम लगानी चाहिए थी। लेकिन यह कहावत बिलकुल सही है कि सभी प्रतिक्रियावादी एक ही जैसे होते हैं– वे पत्थर उठाकर अपने हाथ-पाँव तोड़ लेते हैं और ऐसा तब तक करते रहते हैं जब तक उनकी मौत न हो जाए।

अमरीकी साम्राज्यवादी, अपराधी बुश-गिरोह ने इराक युद्ध में छोटे और क्षेत्रीय पैमाने पर इस्तेमाल होने वाले नाभिकीय हथियारों को छोड़कर सभी आधुनिकतम इलेक्ट्रानिक हथियारों का इस्तेमाल किया है। अपने जन्म से लेकर आज तक अमरीकी साम्राज्यवाद वियतनाम, इण्डोनेशिया और लातिन अमरीका के अनेक देशों में अपनी क्रूरता और बर्बरता को दोहराता रहा है। इराक युद्ध के दौरान अमरीका द्वारा किये गये नरसंहार ने माइलाई और हिरोशिमा जैसे नरसंहारों को भी पीछे छोड़ दिया। इस युद्ध में भी वह लगभग 1,854 अरब डालर* झोंक चुका है जो भारत के सकल घरेलू उत्पाद का कई गुना है। वियतनाम में जहाँ हजारों की संख्या में सैनिक मारे गये, दसियों हजार विकलांग हो गये और हजारों की संख्या में मानसिक रोगों के शिकार हुए वहीं इराक के लाखों लोग–जिनमें औरतें, बच्चे, बूढ़े और बीमार भी शामिल हैं, अमरीकी सेना द्वारा किये गये नरसंहार के शिकार हुए हैं। जब भी सम्भव होगा विश्व की जनता बुश-गिरोह के युद्ध अपराधियों को न्यायालय में घसीट लायेगी और उन्हें सजा देगी।

*नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के बजट विशेषज्ञ जोसेफ स्टिगलिट्ज द्वारा की गयी गणना (*दहिन्दू*, 12 जनवरी 2006)।

इराक युद्ध की अमरीकी योजना और आक्रमण का विरोध साम्राज्यवादी समूह के भीतर प्रारम्भ से ही होने लगा था। रूस, फ्रांस, जर्मनी सहित बहुत से देश इसके विरोध में रहे और अन्त तक उसके साथ शामिल नहीं हुए। यह एक सर्वविदित सच्चाई है कि डाकू गिरोह की एकता लूट के माल के बँटवारे को लेकर हमेशा भंग होती रही है। तीसरी दुनिया के बहुलांश देश भी इसके विरोध में रहे। अरब देशों में बहुतों ने मुखर और कुछ ने मौन विरोध किया। अमरीकी जनता ने युद्ध के विरोध में विशाल प्रदर्शन किये। विश्व भर की जनता ने युद्ध का विरोध किया।

बुश-गिरोह और उसके वफादार ताबेदार ब्लेयर ने इस युद्ध के दौरान छल-प्रपंच और झूठ के आधुनिक विश्व के सारे रिकार्ड तोड़ डाले, पूँजीवादी लोकतन्त्र के रहे-सहे स्वस्थ तत्वों को भी दफ्न कर दिया और इन्होंने अपने को ग्रैबियल गार्सिया मार्क्वेज के उपन्यास ''एकान्त के सौ वर्ष'' की अन्तिम पीढ़ी के सुअर की दुम वाले गन्दे जुड़वा बच्चे साबित किया।

इराक में अमरीका की शर्मनाक पराजय सबसे पहले तो इराक की जनता की जीत है। साथ ही, यह अमरीका की जनता और विश्व की सभी मेहनतकश जनता की जीत है।

दो शब्द भारत सरकार के बारे में।

वाजपेयी-आडवाणी की सरकार ने अमरीका के सामने बार-बार घुटने टेके और इराक में सैनिक भेजने की उसकी फरमाइश पूरी करने के मन्सूबे बनाये। लेकिन भारतीय जनता के प्रबल बहुमत के सामने वे ऐसा नहीं कर सके।

सोनिया-मनमोहन सरकार ने भी सैनिक भेजने का कई बार मन बनाया लेकिन जनता के प्रबल विरोध के भय से वे ऐसा नहीं कर सके।

भारत के शासक वर्गों की अमरीकापरस्ती अगर इसी तरह बढ़ती रही तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी कि अपने क्षुद्र वर्गीय और तात्कालिक स्वार्थों की पूर्ति तथा अमरीकी साम्राज्यवाद के विश्व को अपने प्रभुत्व में लाने के मन्सूबों को पूरा करने के लिए वे भारतीय सिपाहियों को भेजें। और इसतरह हम उपनिवेशवाद के दौर से जारी उस गुलामी की प्रथा को आज भी ढोते रहेंगे जिसमें भारतीय सिपाही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में तोप का चारा बनने दुनिया के विभिन्न हिस्सों में जाया करते थे और भारत कलंकित हुआ करता था। लेकिन भारत की जनता का प्रबल विरोध ऐसा नहीं होने देगा। भारतीय शासक वर्ग के क्षेत्रीय चौधरी बनने और अमरीका के विश्व का चौधरी बनने के मन्सूबे कभी पूरे नहीं हो सकेंगे।

यह सच है कि सद्दाम हुसैन शियाओं और कुर्दों का हत्यारा और दमनकारी था लेकिन उससे भी बड़ा सच यह है कि सी.आई.ए. ने इराक के कम्युनिस्टों, समाजवादियों और प्रगतिशील लोगों की हत्या करवाने के लिए सद्दाम को खड़ा किया था। और यह भी सच है कि सद्दाम लम्बे समय तक अमरीकापरस्ती करता रहा। और यह भी सच है कि ईरान के साथ 10 सालों तक चला युद्ध अमरीका की शह पर सद्दाम द्वारा चलाया गया। इस सद्दाम से अमरीकियों को कोई शिकायत नहीं थी। उनकी शिकायत उस सद्दाम से बनी जिसने उनके प्रति पूर्णत: वफादार कुवैत पर आक्रमण कर दिया और जो तेल का व्यापार डालर के बजाय यूरो, येन और युआन में करने के बारे में सोचने लगा।

यहाँ हम अमरीका के एक पूर्व विदेशमन्त्री जेम्स बेकर और भारत के पूर्व प्रधानमन्त्री इन्द्रकुमार गुजराल के बीच हुए वार्तालाप की दो पंक्तियों को उद्धृत करना चाहते हैं:

जेम्स बेकर : ''यह शैतान तेल पर बैठा हुआ है और हम इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते।''

इन्द्रकुमार गुजराल : ''भारत की खुशकिस्मती है कि हमारे पास तेल नहीं है।''

यह बिल्कुल सच है, बल्कि सच से भी ज्यादा है कि पूँजीवादियों और साम्राज्यवादियों की नैतिकता, उनका धर्म, उनकी अन्तरात्मा, उनका विवेक, मानवाधिकार, लोकतन्त्र, आजादी, प्रगतिशीलता, इत्यादि-इत्यादि, सब कुछ उनके क्षुद्र स्वार्थों से संचालित होता है। और यह स्वार्थ है उनकी पूँजी का स्वार्थ, पूँजी की बढ़ोत्तरी और उस पर अपना आधिपत्य और एकाधिकार।

सद्दाम जो भी था, एक इराकी था। इराक की जनता-शिया, कुर्द और अन्य मेहनतकश जनता उससे संघर्ष कर रही थी। देर-सबेर वह अपने अधिकार और आजादी हासिल करती। इराक युद्ध के बाद इराकी जनता ने यह साबित कर दिया है कि वह क्रूर, खूँखार और खून से भरे मुँह और नथुने वाले साम्राज्यवादी भेड़ियों को सद्दाम की जगह किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं कर सकती। लेकिन क्या साम्राज्यवादी कभी इस बात को समझ सकेंगे।

अफगानिस्तान के तालिबान सिरफिरे, बेवकूफ, जुनूनी और पुनरुत्थानवादी थे लेकिन फिर भी अफगानी थे। उनको

इराकी जनता का प्रतिरोध युद्ध जायज है

संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा ने 1978 में एक प्रस्ताव पास करके इस बात को एक बार और अनुमोदित किया कि विदेशी कब्जे से अपने देश की मुक्ति के लिए संघर्ष के दौरान उस देश की जनता द्वारा हर सम्भव तरीके आजमाना, खास तौर पर हथियारबन्द संघर्ष चलाना भी जायज है।

सत्ता में पहुँचाने का सबसे बड़ा श्रेय अमरीकी थैलीशाहों को जाता है। लादेन और उमर को भी इन्होंने ही पैदा किया है। जब वे उनकी बात अनसुनी करने लगे और इनके खिलाफ बोलने लगे तो अमरीका को उनमें सभी बुराइयाँ दिखने लगीं। तालिबान जब तक रूसी साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ते रहे तब तक अमरीका की नजर में वे ठीक थे। जब तक वे मध्य एशिया के ऊर्जा स्रोतों पर कब्जा जमाने में उनके शतरंज के मोहरे बने रहे, तब तक वे ठीक थे। ऐसा नहीं होते ही वे सारे दुर्गुणों से भर गये।

यही है साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की नैतिकता। यही है उसकी प्रगतिशीलता। यही है मानवाधिकार का उसका दम्भ। यही है उसका लोकतन्त्र।

अफगानिस्तान में उसकी कठपुतली हामिद करजई, नाटो के सिपाहियों से घिरा बन्दी का जीवन बिता रहा है। विदेशी सरकारों का कोई प्रतिनिधि काबुल में रात बिताने को तैयार नहीं है। लेकिन हमारे ''सूरमा'' प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह वहाँ रात भर रह आये हैं। भारत और पाकिस्तान के आपसी झगड़ों ने इन्हें अन्धा कर दिया है। वे यह भी नहीं समझते कि अफगानिस्तान हमेशा अफगानियों का रहेगा, कभी भी अमरीका या उसके चमचों का नहीं हो सकता। आधी सदी भी नहीं बीती कि इतिहास का यह सच भारत के रहनुमा भूल गये हैं।

इराक में अमरीकी पराजय एक पूर्व-लिखित दस्तावेज है। यह इसके पहले वियतनाम में लिखा जा चुका था। साम्राज्यवादियों के खिलाफ संघर्ष करती एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका की जनता ने इसे रोज, बार-बार लिखा है।

मानव चेतना के इस युग में उपनिवेशों का निर्माण सम्भव नहीं है। यह धारा कि देश आजादी चाहते हैं, बहुत मजबूत है लेकिन इतिहास को आगे ले जाने में इसकी भूमिका कमोबेश पूरी हो चुकी है। जनता की सही मुक्ति और उसकी समस्याओं का समाधान एक समग्र क्रान्ति में है, एक समाजवादी क्रान्ति में है और यही आज के विश्व की उदीयमान धारा है। इसकी शक्ति निरन्तर बढ़ती जायेगी।

यह सच है कि इतिहास का रास्ता बहुत सुगम नहीं होता। लेकिन इतिहास इराकी जनता के इस बहादुराना कारनामे को हमेशा दोहरायेगा और दुनिया की जनता इसे याद करेगी। p

इराक से भागने की तैयारी

बुश प्रशासन ने युद्ध से तबाह इराक के पुनर्निर्माण की योजना से हाथ खींच लिया है और अब वह इस काम के लिए संसद से नये कोष की माँग नहीं करेगा। इसके चलते इराक में अरबों डालर की परियोजनाएँ अधूरी रह जायेंगी। बुश ने दावा किया था कि अमरीका इराक में मध्यपूर्व का सबसे बेहतर बुनियादी ढाँचा, तेल-उद्योग और बिजली उत्पादन मुहैया करायेगा। लेकिन इस फैसले से स्पष्ट है कि इराक के पुनर्गठन की अमरीकी योजना असफल साबित हुई है और वहाँ पूँजी-निवेश करने में अब उसकी रुचि नहीं रह गयी है। 18.4 अरब डालर का आबण्टन अगले वर्ष जून में समाप्त हो जायेगा। इतने पैसे से वहाँ बिजली और तेल उत्पादन का स्तर अमरीकी हमले से पहले के स्तर तक भी नहीं पहुँचाया जा सकता।

(*दहिन्दू*, 4 जनवरी 2006)

अमरीकी झूठ का भण्डाफोड़

सी.आई.ए. ने एक पूर्व राजनयिक जोसफ विलसन को यह पता करने के लिए नाइजीरिया भेजा था कि वहाँ से सद्दाम हुसैन ने नाभिकीय पदार्थ खरीदे थे या नहीं। अपनी रिपोर्ट में विलसन ने इस तथ्य को गलत बताया था फिर भी अमरीकी अधिकारी और जार्ज बुश लगातार इस सम्बन्ध में झूठ बोलते रहे। अन्त में विलसन ने *न्यूयार्कटाइम्स* में एक तीखी टिप्पणी लिखकर स्पष्ट किया कि उसने अपनी रिपोर्ट में ऐसी कोई बात नहीं बतायी थी और यदि फिर भी उसकी रिपोर्ट को लगातार नजरअन्दाज किया जा रहा है तो जाहिर है कि ''इराक के खिलाफ युद्ध छेड़ने के लिए हमने झूठे बहाने गढ़े।''

***डाउनिंगस्ट्रीटमेमो*नामक दस्तावेज ब्रिटिश गुप्तचर अधिकारियों के बीच बातचीत का कार्यवृत्त है जिसमें एक प्रमुख ब्रिटिश गुप्तचर अधिकारी ने २००२ में वाशिंगटन से लौटकर अपने सहकर्मियों को सूचित किया था कि ''बुश सद्दाम हुसैन को सैनिक कार्रवाई के जरिए सत्ता से हटाना चाहते थे, जिसे उचित ठहराने के लिए आतंकवाद और विध्वंसक हथियारों का बहाना बनाया गया। गुप्तचर सूचनाओं और तथ्यों को इसी नीति के इर्द-गिर्द गढ़ा और सजाया गया।''**

सद्दाम हुसैन और अलकायदा के बीच सम्बन्ध होने तथा सद्दाम हुसैन द्वारा अमरीका पर सम्भावित हमले के बारे में व्हाइट हाउस द्वारा फैलायी गयी झूठी बातों का भी एक-एक करके भण्डाफोड़ होता गया। जब पूरी दुनिया को अमरीकी झूठ का पता चल गया, तब आखिरकार जार्ज बुश ने स्वीकार किया कि ''सद्दाम हुसैन और विध्वंसक हथियारों के बारे में अधिकांश गुप्तचर सूचनाएँ गलत थीं।'' कोलिन पावेल ने तो यहाँ तक माना कि ''उसे ऐसी गुप्तचर सूचनाओं के बारे में जानबूझकर बहकाया गया।''

समाचार-विचार

कलिंग नगर नरसंहार : लाशों के ढेर पर विकास का ताण्डव

2 जनवरी को कलिंग नगर (उड़ीसा) में पुलिस की गोली से 12 आदिवासी मारे गये जिनमें एक 13 वर्षीय स्कूली छात्र और तीन महिलाएँ शामिल हैं। आदिवासी जाजपुर जिले के इस औद्योगिक इलाके में टाटा स्टील प्लाण्ट की चारदीवारी बनाये जाने का विरोध कर रहे थे क्योंकि सरकार ने उस प्लाण्ट के लिए उनके मकानों और खेतों का अधिग्रहण करके उन्हें उजाड़ दिया था और उचित मुआवजे व पुनर्वास की उनकी माँग पर कोई ध्यान नहीं दे रही थी। इससे पहले आन्दोलन के दबाव में दो बार निर्माण कार्य रोकना पड़ा था, लेकिन इस बार स्थानीय अधिकारियों को मुख्यमन्त्री नवीन पटनायक का सख्त निर्देश था कि किसी भी कीमत पर चारदीवारी बननी चाहिए। जिला स्तर के सभी आला अफसर उस वक्त घटनास्थल पर मौजूद थे और प्रदर्शनकारियों से बातचीत करने के बजाय वे उनका दमन करने की पूरी तैयारी करके आये थे। लगभग एक घण्टे तक पुलिस का खूनी खेल चलता रहा। यहाँ तक कि जान बचाकर भाग रहे लोगों को भी पुलिस ने निशाना बनाया। पोस्टमार्टम रिपोर्ट के मुताबिक अधिकांश गोलियाँ मृतकों की पीठ में मारी गयीं थीं।

आदिवासियों को अधिग्रहित जमीन के बदले सरकार ने 1990 में प्रति एकड़ 37 हजार रुपये का मुआवजा दिया था जबकि वही जमीन प्रति एकड़ 3.5 लाख रुपये (लगभग 10 गुना) पर उद्योगपतियों को बेच रही थी। आन्दोलन के दबाव में सरकार ने मुआवजे की राशि में नाममात्र की वृद्धि की लेकिन आदिवासियों ने उसे स्वीकार नहीं किया।

विकास के नाम पर बिना मुआवजा और पुनर्वास की व्यवस्था किये आदिवासियों को उजाड़ देना कोई नयी बात नहीं। मछकुण्ड पनबिजली केन्द्र, हीराकुण्ड बाँध और रेंगली बाँध के विस्थापितों के पुनर्वास का काम अभी तक पूरा नहीं हुआ है। 1951 से 1995 के बीच 20 लाख से भी अधिक आदिवासी परिवारों को सिंचाई, बिजली और खनन परियोजनाओं में उजाड़ा गया। विकास के नाम पर बड़े पैमाने पर उजाड़े गये आदिवासी आज देश भर में ईंट भट्ठों और भवन निर्माण में गुलामों की तरह खटने या काम की तलाश में दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर हैं।

उड़ीसा में आदिवासियों की आबादी लगभग एक चौथाई है जिनमें से 73 प्रतिशत परिवार गरीबी रेखा के नीचे हैं। जमीन और जंगल पर उनके प्राकृतिक और परम्परागत अधिकार से उन्हें वंचित किया जाना ही उनकी भयावह गरीबी का प्रमुख कारण है। आदिवासी इलाकों की केवल 13 प्रतिशत जमीन पर आदिवासियों का मालिकाना है। अधिकांश आदिवासी परिवार या तो भूमिहीन हैं या उनके पास नाममात्र की जमीन है। बाकी 87 प्रतिशत जमीन या तो सरकारी कब्जे में है या बाहर से आये गैरआदिवासियों के कब्जे में है जिन्हें आदिवासी दिकू (डाकू) कहते हैं। पिछली चार पीढ़ियों से जिस जमीन पर वे खेती करते आ रहे हैं वह भी उनकी नहीं है। सरकार की नजर में उनकी यह पुश्तैनी जमीन अनधिकृत है क्योंकि 1928 के बाद से ही इस इलाके में भूमि बन्दोबस्त का काम नहीं हुआ। अंग्रेजी राज की तो बात ही क्या, आजादी के बाद भी किसी सरकार ने आदिवासियों को जमीन का मालिकाना हक देने का काम नहीं किया। उल्टे सरकारी अधिसूचनाओं के जरिये उनकी जीविका का एकमात्र सहारा–जंगल पर उनकी न्यायसंगत दावेदारी खत्म करने या वहाँ से हमेशा के लिए उन्हें विस्थापित करने का ही काम करती आ रही है। हजारों की संख्या में आदिवासी जंगल से लकड़ी या फल-मूल इकट्ठा करने के इल्जाम में जेलों में बन्द हैं जबकि पीढ़ी दर पीढ़ी से जंगल पर उनका ही अधिकार रहा है और उसके असली दावेदार वे ही हैं।

कलिंग नगर में ही नहीं बल्कि उड़ीसा के विभिन्न इलाकों में आदिवासी अपनी माँगों को लेकर काफी अर्से से आन्दोलन चला रहे हैं। दुनिया में स्टील की भारी माँग और उड़ीसा में लौह अयस्क के अक्षय भण्डार के लोभ में आज भारी तादाद में देश-दुनिया के पूँजीपति भुवनेश्वर की ओर रुख कर रहे हैं। उनकी सेवा में फूलमाला लिये खड़ी उड़ीसा सरकार ने अभी तक वहाँ 43 नये स्टील प्लाण्ट लगाने की मंजूरी दी है जिनमें से 13 कलिंग नगर क्षेत्र में लगने वाले हैं। दूसरी ओर इन प्लाण्टों के चलते उजाड़े गये आदिवासियों के पुनर्वास और मुआवजे की ओर ध्यान देने के बजाय सरकार आन्दोलनकारी आदिवासियों को गोलियों से भून रही है। इससे पहले दिसम्बर 2000 में भी काशीपुर (रायगढ़) में एक फैक्ट्री के लिए अधिग्रहित जमीन का मुआवजा माँग रहे आदिवासियों पर पुलिस ने गोली चलायी थी जिसमें तीन आदिवासी मारे गये थे।

किसकी सरकार?

जाने-माने अर्थशास्त्री प्रो. प्रभात पटनायक ने हिसाब लगाया है कि यदि सरकार विश्वबैंक और मुद्राकोष के नुस्खे को लागू करते हुए टैक्सों में कमी करने के बजाय 1999 के स्तर पर ही बनाये रखती तो उसकी सालाना आय 300 अरब रुपये बढ़ जाती। इसी तरह अगर कर्जों के बोझ को भी बढ़ने से रोका गया होता तो ब्याज भुगतान का 150 अरब रुपया सालाना खर्च बचता। यानी टैक्स में छूट और ब्याज के रूप में सरकार हर साल 450 अरब रुपये की धनराशि देशी-विदेशी पूँजीपतियों और सूदखोरों की झोली में डाल रही है। (*दहिन्दू*, 29 मई 2005)

दूसरी ओर, गाँवों में बढ़ती भुखमरी, कुपोषण और बदहाली के बावजूद ग्रामीण विकास पर हर साल 300 अरब रुपये की कटौती करके सरकार गरीब जनता को दवा, शिक्षा और पीने का पानी जैसी बुनियादी जरूरतों से भी वंचित कर रही है।

कलिंग नगर नरसंहार के बाद भी आदिवासियों का हौसला पस्त नहीं हुआ। कलिंग नगर गोलीकाण्ड के बाद झारखण्ड के विस्थापित आदिवासियों का आन्दोलन फूट पड़ा। जामतारा में भी विस्थापितों के प्रदर्शन पर पुलिस ने गोली चलायी जिसमें एक आदिवासी की मौत हुई और कई लोग घायल हुए। इसके बाद बोकारो में भी उग्र प्रदर्शन हुआ जिसमें एक व्यक्ति पुलिस दमन का शिकार हुआ और कई लोग घायल हुए। हालाँकि आन्दोलन के जरिए सत्ता के गलियारे में पहुँचे झारखण्ड मुक्तिमोर्चा ने इन आन्दोलनों का समर्थन किया है लेकिन इन आन्दोलनों पर किसी राजनीतिक नेता या पक्ष-विपक्ष की किसी राजनीतिक पार्टी का प्रभाव नहीं है। सच तो यह है कि अब तक छिटपुट और स्थानीय स्तर पर चल रही आदिवासियों की न्यायपूर्ण लड़ाई को इन गोलीकाण्डों ने व्यापक और सुदृढ़ बनाने का ही काम किया है। विस्थापित विरोधी मंच के नेतृत्व में दयतारी-पारादीप एक्सप्रेस हाइवे को जोड़ने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग पर 28 दिनों तक जाम लगाने के बाद आदिवासियों ने 30 जनवरी को डुबरी (जाजपुर) में एक विराट रैली का आयोजन किया जिसमें उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड और पश्चिमी बंगाल के विभिन्न इलाकों से आये हजारों आदिवासियों ने हिस्सा लिया।

30 जनवरी को शहीद दिवस मनाने के साथ ही इस दमन के खिलाफ आदिवासियों को संगठित करने के लिए राज्य के आदिवासी क्षेत्रों में शहीद यात्रा की भी शुरुआत की गयी। पुलिस की गोली से मारे गये शहीदों का अस्थिकलश एक रथ पर रखकर रैली स्थल से उसे रवाना किया गया जो पहले जाजपुर जिले के खनिज सम्पदा से भरपूर सुकिन्दा इलाके और फिर राज्य के दूसरे इलाकों में जायेगा। मुख्यमन्त्री द्वारा शान्तिवार्ता के प्रस्ताव को आदिवासियों ने यह कहकर ठुकरा दिया कि जब तक उनकी सभी माँगें नहीं मानी जातीं, वे किसी भी तरह की बातचीत में हिस्सा नहीं लेंगे।

अंग्रेजों की गुलामी के खिलाफ बिरसामुण्डा, सिद्धु-कानू और चोट्टीमुण्डा से लेकर कलिंग नगर तक आदिवासी जनता शोषण उत्पीड़न के खिलाफ अनवरत संघर्ष चलाती आ रही है। आजादी के बाद उनके जुझारू संघर्षों से निकले कई नेतृत्वकारी लोग शासक वर्गों द्वारा खरीद कर व्यवस्था में समाहित किये जाते रहे हैं। बार-बार अपने ही लोगों द्वारा दगाबाजी किये जाने के बावजूद उन्होंने कभी भी संघर्षों से मुँह नहीं मोड़ा। आन्दोलन का नेतृत्व ऐसे धोखेबाज, पदलोलुप और स्वार्थी नेताओं को दर-किनार करते हुए इस आन्दोलन को सही दिशा में आगे बढ़ायेगा ऐसा संकेत दिखाई दे रहा है। आन्दोलन की सीमाएँ हैं, फिर भी मेहनतकशों की व्यापक और दूरगामी लड़ाई के साथ एकजुट होकर यह संघर्ष देश के भविष्य को दिशा देने में मददगार साबित होगा, ऐसी उम्मीद है। p

समाचार-विचार

मजदूर वर्ग पर एक बड़े हमले की तैयारी

जनवरी माह में तमिलनाडु सिविल सप्लाईज निगम के एक कर्मचारी के मामले में सुनाये गये अपने एक नायाब फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने खुद अपने अधिकारों को सीमित करते हुए कहा कि अगर कोर्ट में कोई व्यक्ति निर्दोष भी साबित हो जाता है तो भी विभागीय जाँच और विभागीय अनुशासन समिति के फैसले को सुप्रीम कोर्ट बदल नहीं सकता। यानी कोर्ट में अपील सिर्फ यह तय करने के लिए होगी कि विभागीय जाँच सही तरीके से की गयी या नहीं, यह तय करने के लिए नहीं कि अनुशासन समिति का निर्णय सही था या गलत।

सुप्रीम कोर्ट की इस स्वीकारोक्ति से इस सच्चाई से पर्दा पूरी तरह उठ जाता है कि देश में असली शासन पूँजीपतियों और कॉरपोरेट प्रबधन्कों का है, और न्याय-अन्याय का निर्णय करने वाली सर्वोच्च संस्था सुप्रीम कोर्ट नहीं बल्कि पूँजीपतियों और प्रबन्धकों द्वारा गठित अनुशासन समिति है।

सुप्रीम कोर्ट का यह फैसला पिछले दिनों में हुए बहुत सारे छिटपुट फैसलों की कड़ी से जोड़कर ही समझा जा सकता है। सुप्रीम कोर्ट के इन फैसलों में दफ्तर में काम के घण्टों के दौरान ''सोने'', ''गाली-गलौज'' करने, बॉस को ''पीटने'' या वरिष्ठ अधिकारी का घेराव करने या लम्बे समय तक बिना पूर्वसूचना दिये अनुपस्थित रहने पर कर्मचारी की बर्खास्तगी को सही ठहराया गया है।

देश के पूँजीपतियों के संगठन एशोचैम (एसोसिएटेड चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज) ने सुप्रीम कोर्ट के इन फैसलों को ''मील का पत्थर'' और ''महत्वपूर्ण'' नजीर बताते हुए इनकी प्रशंसा की। इतना ही नहीं उसने दिल्ली में एक सेमीनार आयोजित करके उसमें ''श्रमिक मुद्दों से सम्बन्ध रखने वाले प्रबन्धकों'' को बुलाया और उनके साथ मजदूरों से निपटने के लिए न्यायपालिका द्वारा उपलब्ध करवाये गये औजारों पर चर्चा की गयी।

सुप्रीम कोर्ट द्वारा सुनाये गये ये फैसले संक्षेप में इस प्रकार हैं:

1 अधिकारी से झगड़ा करने पर बर्खास्त किये गये बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड के दो मजदूरों के केस में सुप्रीम कोर्ट ने उन कर्मचारियों की बर्खास्तगी को सही ठहराया। साथ ही उसने यह भी फैसला दिया कि उन कर्मचारियों की ग्रेच्युटी भी जब्त की जा सकती है।

1 अधिकारी से लड़ने के कारण बर्खास्त किये गये मध्य प्रदेश बिजली बोर्ड के एक कर्मचारी की बर्खास्तगी का समर्थन करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि ''संस्था के दक्षतापूर्वक संचालन के लिए अनुशासन जरूरी है।'' और ''कार्य स्थल पर अधिकारी की आज्ञा

मानना गुलामी नहीं है।''

- भारत फोर्ज कम्पनी लिमिटेड के एक कर्मचारी को ड्यूटी पर सोने के कारण बर्खास्त करने के फैसले का समर्थन करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि ड्यूटी पर सोने के आधार पर बर्खास्तगी उचित ठहरायी जा सकती है।
- बॉस के खिलाफ ''अपशब्द'' बोलने के जुर्म में 11 साल पहले बर्खास्त किये गये महिन्द्रा एण्ड महिन्द्रा लिमिटेड के कर्मचारी के मामले में कोर्ट ने कहा कि वरिष्ठ अधिकारी को गाली देना बर्खास्तगी का पर्याप्त कारण है।
- वरिष्ठ अधिकारी का घेराव करने पर बर्खास्त किये गये फरीदाबाद की एक कम्पनी के कर्मचारियों के मामले में फैसला सुनाते हुए सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि ''एक बार जब घेराव में कर्मचारियों की भागीदारी अन्तिम तौर पर साबित हो गयी तो इस मामले में वे किसी राहत के अधिकारी नहीं रह जाते...।''
- राजस्थान सरकार के एक कर्मचारी के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने बिना पूर्व सूचना के लम्बे समय तक दफ्तर से अनुपस्थित रहने पर बर्खास्तगी का समर्थन किया।
- छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के शहीद ट्रेड यूनियन नेता शंकर गुहा नियोगी के मामले में आरोपियों को बरी करने के मध्य प्रदेश हाईकोर्ट के फैसले की आलोचना करने पर सुप्रीम कोर्ट ने अप्रैल के अन्त में राजेन्द्र सायल को एक हफ्ते की कैद की सजा सुनायी और जजों और न्यायपालिका की आलोचना छापने पर मीडिया को चेतावनी दी। राजेन्द्र सायल ने फैसले की आलोचना करते हुए कहा था कि ऐसा लगता है कि ''न्यायपालिका में धनी लोगों को सजा देने की पर्याप्त शक्ति नहीं'' है। खण्डपीठ ने निर्णय सुनाते हुए कहा कि ऐसे आरोप न्यायपालिका को बदनाम करने और उसका माखौल उड़ाने का जरिया बनेंगे और ''न्यायपालिका में विश्वास की कमी का मतलब होगा कानून के शासन का खात्मा।'' ''इस तरह की प्रवृत्तियों को सख्ती से कुचला जाना चाहिए।''

सुप्रीम कोर्ट के ये फैसले एक व्यापक रुझान को दर्शाते हैं पिछले कुछ सालों में सुप्रीम कोर्ट और विभिन्न हाईकोर्टों ने मजदूरों से हड़ताल करने और विरोध करने के बुनियादी अधिकार ही छीन लेने की कोशिशें की हैं। सुप्रीम कोर्ट ने बन्द पर रोक लगाने के केरल हाईकोर्ट के निर्णय पर मोहर लगायी। कलकत्ता हाईकोर्ट ने भी काम के दिनों में रैली करने पर रोक लगाने का फैसला सुनाया। तमिलनाडु के 1 लाख 70 हजार कर्मचारियों की हड़ताल को गैरकानूनी घोषित करते हुए मद्रास हाईकोर्ट ने घोषित किया, ''किन्हीं भी परिस्थितियों में कर्मचारियों को हड़ताल पर जाने का कोई कानूनी या नैतिक अधिकार नहीं है... यहाँ तक कि ट्रेड यूनियनें भी, जिन्हें सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार है, हड़ताल पर जाने का अधिकार नहीं रखती।''

नयी आर्थिक नीतियों और वैश्वीकरण के इस दौर में देश का शासक वर्ग सुप्रीम कोर्ट की पुरानी भूमिका से सन्तुष्ट नहीं है इसलिए सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्ट के जजों के लिए विशेष कोर्स चलाये जा रहे हैं कि वे ''वैश्वीकरण के इस नये दौर में कैसे फैसला करें। सुप्रीम कोर्ट के जज नयी परिस्थिति को कितनी अच्छी तरह समझ गये हैं, इसका ताजा उदाहरण सुप्रीम कोर्ट का एक फैसला है जिसमें उसने कर्नाटक कालेज के एक प्रवक्ता की बर्खास्तगी का समर्थन किया है क्योंकि उसने प्रिंसिपल को चप्पल से पीटा था।

फैसले में कहा गया है कि ''**आर्थिक नीतियों में परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए अब यह उचित नहीं होगा** कि अनुशासन भंग करने पर कर्मचारियों को दण्डित न किया जाये।

''**...बहुत उकसाये जाने पर** भी एक शिक्षक से उम्मीद नहीं की जाती कि वह संस्था के प्रमुख को गाली दे और उसे चप्पलों से पीटे।''

जाहिर है कि हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट पूँजीपति वर्ग के हितों की खुलेआम वकालत कर रहे हैं जिनकी मेहरबानी से औद्योगिक विवाद अधिनियम में बदलाव के पहले ही पूँजीपतियों और मैनेजरों को मजदूरों से निपटने के औजार मिल गये हैं।

भारतीय शासक वर्ग देश के मजदूरों और मेहनतकश जनता के ऊपर एक बड़े हमले की तैयारी में हैं। देशी-विदेशी पूँजीपतियों से लेकर श्रम मंत्रालय और प्रधानमन्त्री तक सभी एक स्वर से मौजूदा श्रम कानूनों में बदलाव के लिए बेचैन हैं। 'जब चाहो रखो, जब चाहो निकालो' (हायर एण्ड फायर) से कम पर वे सन्तुष्ट होने वाले नहीं हैं।

सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये जा रहे ये तमाम निर्णय मजदूर वर्ग पर हो रहे एक बड़े हमले का अंग हैं। शासक वर्गों का हमलावर होना देश दुनिया के शक्ति-सन्तुलन के वक्ती तौर पर मजदूर वर्ग के खिलाफ होने का नतीजा है। शासक वर्ग की यह आक्रामकता उसकी भाषा में भी दिखायी दे रही है।

''आर्थिक नीतियों में परिवर्तन'' के अनुरूप गढ़ी गयी इस नयी भाषा के मुताबिक गैरबराबरी एक सदगुण है, कर्मचारियों का विरोध ''अनुशासनहीनता'' है और अधिकारियों की बर्बरतम तानाशाही भी ''कानून का शासन''। पूँजीपतियों और मालिकों की इस भाषा के मुताबिक वे कानून ''कठोर'' हैं जो उन्हें मजदूर को जब चाहे निकाल बाहर करने का अधिकार नहीं देते और उन्हें ठेके पर मजदूर रखने और निकालने के मामले में पूरी छूट देने वाले कानून ''लचीले'' हैं। इन ''लचीले'' कानूनों के दम पर मजदूरों से सख्ती से निपटा जायेगा जिसकी बानगियाँ गुड़गाँव से लेकर कलिंग नगर तक देखी जा सकती हैं।

इस दमन चक्र की दिशा मोड़ने के लिए मजदूरों और मेहनतकशों को दृढ़ता और साहस के साथ अपनी वैचारिक और सांगठनिक तैयारी में जुट जाना होगा। p

कोका कोला के खिलाफ संघर्ष

द्रोणाचार्य का चक्रब्यूह और अभिमन्यु

केरल के पलक्कड़ (पालघाट) जिले की एक छोटी सी पंचायत पेरुमट्टी पिछले 2-3 सालों से कोका कोला के खिलाफ संघर्ष चला रही है।

कोका कोला दुनिया की विराटतम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में से एक है। इस भीमकाय दानव के हाथ-पाँव पूरी दुनिया में फैले हैं। सुदूर ग्राम-प्रान्तरों में गहराई तक इसकी पैठ है। सरकारों और कानूनों को वह अपनी जेब में रखता है, टी.वी. चैनल, अखबार और अन्तरराष्ट्रीय आयोजन इसके विज्ञापनों के मुहताज हैं। छोटे-छोटे कई देशों के कुल बजट से भी कहीं अधिक पैसा यह कम्पनी अपने विज्ञापनों पर खर्च करती है। फिर भी एक छोटी सी पंचायत इसके खिलाफ लोहा ले रही है।

कोका कोला के प्लाचीमाड़ा प्लाण्ट द्वारा जमीन से अन्धाधुन्ध पानी निकालने के चलते उस पूरे इलाके का जलस्तर नीचे चला गया। आस-पास के कई नलकूप और कुँए सूख गए। कम्पनी ने अपना जहरीला कीचड़ उर्वरक बताकर आस-पास के खेतों में फेंकना शुरू किया जो फसलों के लिए बहुत हानिकारक साबित हुआ। पूरे इलाके का पानी इतना प्रदूषित हो गया कि वह पीने लायक नहीं रहा। जाँच में पाया गया कि उसमें भारी मात्रा में कैडमियम और निकिल हैं और वह सामान्य से 5 गुना ज्यादा प्रदूषित है।

कोका कोला के इन जानलेवा कुकृत्यों के खिलाफ पंचायत उठ खड़ी हुई और मार्च 2004 में उसे दुबारा लाइसेंस देने से मना कर दिया। कोका कोला को अपना प्लाण्ट बन्द करना पड़ा।

न्याय-अन्याय की इस लड़ाई में पंचायत को केरल उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय से मात खानी पड़ी। अन्याय का दानव न्याय के मन्दिर से अट्टाहस करता विजयगर्व से झूमता बाहर आया। लेकिन पंचायत ने हार नहीं मानी। कोर्ट के फैसले के आगे विवश होकर पंचायत को उसे लाइसेंस तो देना पड़ा लेकिन पानी निकालने की ऐसी 13 शर्तें उसने रखी हैं, जिनका पालन करना कम्पनी के वश का नहीं है। जनता इन शर्तों में कोई छूट देने को तैयार नहीं है। इस बीच हुए जनान्दोलन ने उसकी चेतना को उन्नत किया है और वह इस दैत्य की हर चाल को समझती जा रही है।

इस बीच केरल सरकार कम्पनी को प्लाचीमाड़ा से हटाकर केरल के ही कांजीकोड में लगाने की गुपचुप कोशिश कर रही थी। 20 जनवरी 2006 को कोका कोला विरोधी समर समिति द्वारा आहूत एक सम्मेलन में भारी संख्या में आम जनता और सहयोगी संगठनों ने यह प्रस्ताव लिया कि कम्पनी जनता को नुकसान का हर्जाना दे और प्लाण्ट को यहाँ से किसी और गाँव में ले जाकर वहाँ के आबो-हवा में भी जहर फैलाने से बाज आये।

पेरुमट्टी पंचायत अभिमन्यु की तरह कोका कोला और राजसत्ता द्वारा रचे गये चक्रब्यूह के एक-एक द्वार को तोड़ते हुए आगे बढ़ रही है। अन्याय के पक्ष में खड़े द्रोणाचार्य और एक छोटे से गाँव की जनता के बीच इस संघर्ष में अन्तिम विजय किसकी होगी यह निश्चित नहीं, लेकिन यह संघर्ष एक अन्यायपूर्ण दानवी शक्ति के खिलाफ जनसाधारण के धैर्य, साहस और दृढ़ता का एक छोटा किन्तु अनमोल उदाहरण है।

अभी हाल ही में मिशिगन विश्वविद्यालय (अमरीका) ने कोका कोला कम्पनी के बहिष्कार का फैसला किया है। सात समुन्दर पार के लोगों को कोका कोला के खिलाफ पेहमट्टी की जनता की लड़ाई के बारे में जानकारी है और उनके साथ वे अपनी एकजुटता प्रकट कर रहे हैं। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयों-कालेजों के छात्र-शिक्षक-बुद्धिजीवी वर्ग इन बातों से पूरी तरह बेखबर, बड़े इत्मिनान के साथ कोक पी रहे हैं। क्या यह चुल्लूभर पानी में डूब मरने की बात नहीं? p

मिशिगन विश्वविद्यालय द्वारा कोका कोला का बहिष्कार

अमरीका की मशहूर मिशगन यूनिवर्सिटी के 40,000 छात्रों और शिक्षकों ने कोका कोला कम्पनी का बहिष्कार करने का फैसला किया है। कोका कोला द्वारा भारत में पर्यावरण को भारी क्षति पहुँचाने और कोलम्बिया में श्रम कानूनों का उल्लंघन करके वहाँ मजदूरों का भयावह शोषण करने के खिलाफ यह कदम उठाया गया है। इससे पहले अमरीका के दो अन्य विश्वविद्यालयों–रटजर्स यूनिवर्सिटी और न्यूयार्क यूनिवर्सिटी ने भी इन्हीं कारणों से कोका कोला कम्पनी का बहिष्कार किया था, जो आज भी जारी है।

अमरीका के इन तीनों विश्वविद्यालयों के छात्रों-शिक्षकों और कर्मचारियों ने कोका कोला का यह विरोध अपने किन्हीं तात्कालिक हितों पर आँच आने के चलते नहीं किया। दूसरे देशों में कोका कोला कम्पनी के शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ उनका यह कदम अन्तरराष्ट्रीय भाईचारे की शानदार मिसाल है। जहाँ एक तरफ अमरीकी शासकों की अनैतिक, वीभत्स और नृशंस कार्रवाइयाँ हैं, वहाँ की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा पूरी दुनिया की बेतहाशा और बेलगाम लूट-खसोट है, वहीं दूसरी ओर वहाँ मेहनतकशों, छात्रों, नौजवानों और बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा ऐसा भी है जो दुनिया के किसी भी कोने में चल रहे न्यायपूर्ण जनसंघर्षों के साथ अपनी एकजुटता और समर्थन का इजहार करता है।

अमरीका में बेरोजगारी, सामाजिक सुरक्षा में कटौती और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लूट से वहाँ की आम जनता खुद भी त्रस्त है। दुनिया के पैमाने पर शक्ति सन्तुलन बदलने और पूँजीवाद के हमलावर होने का असर उन पर भी पड़ा है। इस नयी परिस्थिति ने उनकी चेतना को उन्नत किया है। अमरीका के साम्राज्यवादी मन्सूबों और इराक युद्ध के खिलाफ अमरीकी जनता का देशव्यापी आन्दोलन हो या कोका कोला का बहिष्कार, यह उनकी साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का ही परिचायक है।

खाली पेट, भरे गोदाम

नये वर्ष की शुरुआत में केन्द्र सरकार ने देश की निर्धनतम आबादी से नाम मात्र की राहत भी छीन लेने का फैसला किया। उसने 20 करोड़ गरीब परिवारों को राशन की दुकानों से मिलने वाले गेहूँ और चावल के कोटे में 5-15 किलो प्रतिमाह की कटौती और उनकी कीमत में 95-100 रुपये प्रति क्विण्टल की बढ़ोत्तरी कर दी। विरोध और हो-हल्ले के बाद सरकार ने इस फैसले को तत्काल स्थगित कर दिया है लेकिन अभी भी इसे वापस नहीं लिया है।

दुनिया के सबसे अधिक भूख और कुपोषण के शिकार लोग भारत में हैं। 'खाद्य एवं कृषि संगठन' (एफ.ए.ओ.) की हाल ही में प्रकाशित एक रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत में 5 सालों (1997-2002) में 1 करोड़ 30 लाख लोग भूखे लोगों की कतार में शामिल हुए हैं।

हमारी सरकार को इन करोड़ों भुखमरी के शिकार लोगों के जीने-मरने की कोई परवाह नहीं। तभी तो कृषिमन्त्री ने कहा है कि ''पहले कोटा इसलिए बढ़ाया गया था कि हमारे पास अनाज रखने की जगह नहीं थी।'' लाखों टन अनाज सड़ने लगा तो उन्होंने सोचा कि थोड़ा अनाज सस्ते दामों पर बेचकर नाम कमा लें। लेकिन जिस समय उड़ीसा, राजस्थान और देश के दूसरे इलाकों से भुखमरी की खबरें आ रही थीं और लोग आम की गुठलियाँ खाकर मर रहे थे, सरकार ने 2 करोड़ टन अनाज निर्यात किया था।

वैश्वीकरण की आड़ में सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली को समाप्त करती जा रही है। पहले गरीबी रेखा से नीचे (बी.पी.एल.) और ऊपर (ए.पी.एल.) की श्रेणियों में बाँटकर भारी संख्या में गरीबों को सस्ते राशन से वंचित किया गया। इसके बाद सुनियोजित तरीके से राशन की कीमत बढ़ाकर लगभग खुले बाजार के बराबर और घटिया राशन दिया जाने लगा ताकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली में लोगों की रुचि ही न रह जाए। लेकिन भूखे और बदहाल लोग आज भी बी.पी.एल. कार्ड के लिए उतावले हैं। पिछले वर्ष आन्ध्र प्रदेश की सरकार शहरी गरीबों के लिए एक करोड़ बी.पी.एल. कार्ड जारी करके रातो-रात लोकप्रिय हो गयी और उसने भारी मतों से नगरपालिका के चुनावों में जीत हासिल की। यह दूसरी बात है कि उस राशन कार्ड के होते हुए भी लोग भूख के शिकार होंगे क्योंकि अब सरकार का आदेश है कि वे 35 किलो की जगह 20 किलो ही खाएँ और वह भी महँगे दामों पर। यह निर्मम सरकार अनाज से अपने गोदाम भरेगी, विदेश भेजेगी, सड़ायेगी या चूहों को खिलायेगी, पर भूखे लोगों को नहीं दे सकती।

क्या यह हमारे देश का दुर्भाग्य नहीं कि यहाँ अपने खून-पसीने से अनाज उगाकर गोदाम भरने वाला समाज का अन्नदाता किसान आत्महत्या करने की ओर धकेल दिया गया है और गरीब मेहनतकश भूखे मरने के लिए? क्या सरकार के पास पैसा नहीं है? देश के अमीर वर्ग के ऊपर इनकम टैक्स का 90 हजार करोड़ रुपया बकाया है जो गरीबों को दी जाने वाली कुल खाद्य सब्सिडी का लगभग 6 गुना है। यानी 20 करोड़ लोगों को भुखमरी और कुपोषण का शिकार बनाने की जगह अगर सरकार थोड़े से अमीरों पर सख्ती करके उनसे यह पैसा निकलवाती तो अगले 6 सालों तक उसे इस मद में पैसे की कोई कमी नहीं रहती।

सरकार के मन्सूबे स्पष्ट हैं। देशी-विदेशी थैलीशाहों की लूट के लिए देश के खजाने, अन्नभण्डार और तमाम संसाधन खुले हैं जबकि आम जनता के लिए सस्ता अनाज, शिक्षा, इलाज, पेयजल, सफाई, टीकाकरण, सिंचाई, ग्रामीण विकास आदि के मद में सरकार हर साल कटौती करती जा रही है। अब तक खाद्य सहायता के मद में सकल घरेलू उत्पाद का 1 प्रतिशत भी सरकार खर्च नहीं करती थी। अब वह इस तुच्छ-सी राशि में भी कटौती करना चाहती है जबकि आज भी अमरीका 35 प्रतिशत और जर्मनी 55 प्रतिशत सामाजिक सुरक्षा पर खर्च करते हैं।

भारत सरकार यदि जनता की बेहतरी के लिए खर्च करे तो दुनिया के देश क्या उसे रोकेंगे? तीसरी दुनिया के कई देशों का सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में सामाजिक सुरक्षा खर्च भारत से ज्यादा है। लेकिन हमारे देश में 1991 के पहले संरक्षणवाद के जमाने भी पूँजीपतियों को ही सरकारी संरक्षण प्राप्त था, जनता तब भी बदहाल थी, टैक्स के बोझ से दबी, दवा, शिक्षा और साफ पानी से वंचित। अब वैश्वीकरण के बहाने सरकार रही सही कसर भी पूरी कर रही है। हमारे देश की सरकारें और उनकी पूरी राजमशीनरी, चाहे वाजपेयी-आडवाणी की पिछली सरकार हो या सोनिया-मनमोहन की वर्तमान सरकार, दिन-रात एक ही काम में लगी रहती है कि कैसे छल-प्रपंच, जोड़-घटाव करके गरीबों से एक-एक पाई छीनकर पूँजीपतियों की तिजोरी भर दी जाए। जनता से नमक छीन लो, राशन का अनाज छीन लो, पीने का पानी, बिजली, इलाज, शिक्षा सब छीन लो। और दूसरी ओर पूँजीपतियों के टैक्स में छूट दो, उन्हें काउण्टर गारण्टी दो, सार्वजनिक निगम कौड़ियों के मोल उनके हवाले करो, कुछ भी करो, लेकिन पूँजीपतियों को खुश रखो। इन सरकारों का यही काम है। p

किसके हैं ये बैंक?

'एसेट रिकन्स्ट्रक्शन कम्पनी ऑफ इण्डिया' की ताजा रिपोर्ट के मुताबिक, बैंको के डूब गये या बट्टे खाते में डाल दिये गये कर्जों की राशि बढ़कर 2,36,000 करोड़ रुपये हो गई है। देश के पूँजीपतियों द्वारा डकार ली गयी इस रकम से दिल्ली-बम्बई-कलकत्ता और मद्रास को जोड़ने वाली स्वर्णिम चतुर्भुज परियोजना 4 बार पूरी की जा सकती है। (*द इण्डियन एक्सप्रेस*, 5 जनवरी 2006।)

दूसरी ओर वे ही बैंक देश के गरीब किसानों से बकाया राशि वसूलने के लिए उनकी सम्पत्ति कुर्क करवा देते हैं या उन्हें इस हद तक अपमानित करते हैं कि वे आत्महत्या करने को मजबूर हो जाते हैं। यदि सरकार पूँजीपतियों पर बकाया पैसे को सख्ती से वसूल ले तो देश के उन लाखों गाँवों में स्कूल, अस्पताल और पीने के पानी का इन्तजाम हो सकता है जो आजादी के 59 साल बाद भी इन सुविधाओं से वंचित हैं।

साधारण नमक बेचने और खाने पर रोक

हमारे देश के शासकों ने देशी-विदेशी पूँजीपतियों का नमक खाया है। अब वे पूरे देश को उनका नमक खिलायेंगे।

सरकार ने 17 नवम्बर 2005 को एक अधिसूचना जारी करके देश में साधारण नमक बेचने और खाने पर रोक लगा दी है। इसका सीधा असर उन करोड़ों गरीब लोगों पर पड़ेगा जो अब तक सस्ते साधारण नमक पर गुजारा कर रहे थे। दूसरी ओर, महँगा आयोडीन नमक बनाने और बेचने वाली देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए यह एक अनमोल सरकारी तोहफा है जो पिछले दो वर्षों से इसकी बिक्री में लगातार गिरावट से परेशान थे। यही नहीं, साधारण नमक का 2,000 करोड़ रुपये सालाना का कारोबार भी अब उन्हीं कम्पनियों की झोली में आ जायेगा और वह भी कई गुना बड़ा होकर क्योंकि आयोडीन नमक की कीमत साधारण नमक से कई गुना अधिक है।

अपने नये माल के लिए बाजार हथियाने या ग्राहकों पर उसे जबरन थोपने के लिए पूँजीपति तरह-तरह के हथकण्डे अपनाते हैं। वे अपने जरखरीद विद्वानों से फर्जी शोधपत्र लिखवाकर अपने प्रचार माध्यमों के जरिये लोगों के दिमाग में बैठा देते हैं कि फलाँ-फलाँ चीज का सेवन करना उनकी जिन्दगी और मौत का सवाल है। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं और स्वंयसेवी संगठनों के धन्धेबाजों द्वारा अभियान चलवाये जाते हैं ताकि समाज में ऐसा माहौल बन जाये कि उनकी मनगढ़न्त बातों को जनता अपने लिए निहायत जरूरी और सही मानकर अपना ले। सरकार द्वारा अपने हित में फैसला करवाना इसका अगला चरण होता है क्योंकि तब लोगों को वह बिल्कुल उचित और जनहित में लिया गया फैसला लगने लगता है। कल्पना करें कि आज से 20 साल पहले यदि सरकार ने साधारण नमक पर प्रतिबन्ध लगाने का फैसला लिया होता तो जनता में इसकी क्या प्रतिक्रिया होती? सरकार ने 1994 में जब एक विदेशी कम्पनी कारगिल कार्पोरेशन को गुजरात में नमक बनाने की अनुमति दी थी तब देशभर में उसके खिलाफ आवाज उठी थी और अन्ततः उस कम्पनी को भागना पड़ा था। लेकिन नमक से जुड़े इस जनविरोधी फैसले के कई महीने बाद भी इस मुद्दे को लेकर कहीं कोई सुगबुगाहट नहीं दिखाई दे रही है क्योंकि पढ़े-लिखे लोगों पर पूँजीवादी मीडिया के प्रचार का काफी असर है।

बाजार पर कब्जा जमाने के लिए अफवाहें फैलाना भी पूँजीपतियों का पुराना खेल है। अभी कुछ ही साल पहले की बात है जब देशभर में यह अफवाह फैलाया गयी थी कि सरसों का तेल खाने से ड्रॉप्सी नामक बीमारी होती है। खासतौर पर शहरी पढ़े-लिखे लोगों ने डर के मारे सरसों का तेल खाना छोड़कर उसकी जगह रिफाइण्ड तेल खाना शुरू कर दिया। इस अफवाह के पीछे विदेशों से रिफाइण्ड तेल की भारी मात्रा में खरीद और देशी सरसों तेल के मुकाबले उसकी बिक्री न होना था। जब सरसों पैदा करने वाले किसान और तेलघानी के कारोबार में लगे लोग भाव गिरने से बर्बाद हो गये और विदेशी रिफाइण्ड तेल ने बाजार में जड़ जमा ली तो ड्रॉप्सी का भूत न जाने कहाँ गायब हो गया।

आयोडीन नमक के धन्धे में लगे पूँजीपति भी अपने कुतर्कों पर वैज्ञानिक शोध की कलई चढ़ाकर लोगों को काफी समय से बरगलाते आ रहे हैं। सरकारी तन्त्र और मीडिया से जुड़े कुछ लोग भी उनके इस प्रपंच में शामिल हैं। वर्षों से यह प्रचारित किया जा रहा है कि आयोडीन की कमी से थायराइड होने की सम्भावना होती है। कई देशों में जहाँ पहले आयोडीन नमक खाना अनिवार्य किया गया था वहाँ बाद में इस फैसले को पलटना पड़ा क्योंकि आयोडीन की अधिकता से लोगों को नयी-नयी बीमारियाँ होने लगीं। हमारे देश के कुछ इलाकों में भी, जहाँ आयोडीन नमक का उपयोग जरूरी बनाया गया, वहाँ थायराइड के मामले पहले से भी अधिक पाये गये। आयोडीन की कमी दूर करने के नाम पर एक अरब से भी अधिक लोगों को लगातार, गैरजरूरी रूप से और जबरन आयोडीन नमक खिलाने का भला क्या तुक है। आयोडीन की कमी की जाँच करके यदि जरूरी हो तो उचित मात्रा में उसका सेवन करना ही बचाव का सही तरीका हो सकता है, न कि अन्धाधुन्ध आयोडीन खा-खाकर नये रोगों को बुलावा देना। लेकिन बीमारी आयोडीन की कमी तो है नहीं, असली बीमारी है मुनाफे की कमी जिससे पूँजीपति हमेशा पीड़ित रहते हैं। सरकार को भी दरअसल उन्हीं की चिन्ता है। जनता के स्वास्थ्य की उसे कितनी परवाह है यह तो इनसेफेलाइटिस, डेंगू, रतौंधी और गैस्ट्रो जैसी महामारियों के प्रति सरकारी रवैये को देखने से साफ जाहिर होता है।

हमारे देश के शासक आज अपने अंग्रेज पुरखों के नक्शेकदम पर चल रहे हैं। उन्होंने भी 1930 में नमक कानून लागू किया था जिसके खिलाफ गाँधी जी ने डांडी यात्रा शुरू की थी और नमक-कानून तोड़ा था। कैसा मजाक है कि पिछले वर्ष डांडी यात्रा की 75वीं सालगिरह उन्हीं लोगों ने बड़े धूमधाम से मनायी जिन्होंने जनता को देशी नमक से वंचित करने में अंग्रेजों को भी मात दे दी। कम से कम अंग्रेजों ने साधारण नमक खाने पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया था।

नमक के विदेशीकरण की कार्रवाई राव-मनमोहन की सरकार ने '90 के दशक में ही शुरू की थी जब ''थायरायड से लड़ो अभियान'' चलाकर 641 कम्पनियों को आयोडीन नमक बनाने का लाइसेंस दिया था। सरकार ने बहुराष्ट्रीय कम्पनी कारगिल को उसी दौरान गुजरात के सतसैदा द्वीप पर नमक बनाने की इजाजत दी थी, जहाँ किसी भी तरह का उद्योग लगाना पहले वर्जित था। बाद में जनता के प्रबल प्रतिरोध के चलते उस कम्पनी को पीछे हटना पड़ा था।

देशी-विदेशी पूँजीपति अपनी घिनौनी साजिशों के जरिये हमारी जिन्दगी की बेहद जरूरी चीजें भी हमसे एक-एक कर छीनते जा रहे हैं। हमारी उदासीनता और निष्क्रियता से उनका मनोबल लगातार बढ़ता जा रहा है। साधारण देशी नमक पर प्रतिबन्ध लगाया जाना इसी बात का प्रमाण है। p

नाभिकीय हथियार : प्रसार-अप्रसार का अमरीकी स्वांग

नाभिकीय हथियारों से लैस देशों का क्लब और खास करके अमरीका आज नाभिकीय अप्रसार के बारे में लम्बी-चौड़ी हाँक रहे हैं। कोई दूसरा देश अगर नाभिकीय ऊर्जा के शान्तिपूर्ण इस्तेमाल के लिए भी शोध और परीक्षण करता है, तो वह अमरीका की आँख की किरकिरी बन जाता है। तमाम अमरीका-परस्त प्रचार माध्यम उसे राक्षस और लोकतन्त्र के दुश्मन के रूप में पेश करने लगते हैं। ईरान के साथ आज यही हो रहा है।

नाभिकीय तबाही का जनक और मूल स्रोत अमरीकी साम्राज्यवाद

दुनिया में सबसे पहले अगस्त 1945 में अमरीका ने जापान के दो शहरों–हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराया था जिसमें 3,20,000 निहत्थे और निर्दोष जापानी नागरिक मारे गये थे। विश्वयुद्ध लगभग समाप्ति पर था जब अमरीका ने इस जघन्य हत्याकाण्ड को अन्जाम दिया। इसके पीछे उसका एक मकसद परमाणु बम की विनाशकारी शक्ति का परीक्षण करना था। दूसरा मकसद पूरी दुनिया में अपनी परमाणविक शक्ति का आतंक कायम करके खुद को साम्राज्यवादी दुनिया के सरगना के रूप में अपना लोहा मनवाना था।

> अमरीकियों और रूसियों के पास 10,000 नाभिकीय विस्फोटक हथियार हैं। हालाँकि इन विस्फोटक हथियारों में लगातार इजाफा होता गया लेकिन अब तक कोई नाभिकीय युद्ध नहीं हुआ। भारत के पास परमाणु हथियार होना एक अवरोधक (डिटरेन्स) था।
>
> **राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम**
> (*दहिन्दू*, 1 फरवरी 2006)

अमरीकी साम्राज्यवादी खेमे से अपनी रक्षा के लिए सोवियत संघ का नाभिकीय शक्ति सम्पन्न होना उसकी मजबूरी हो गयी। उसने भी 1949 में नाभिकीय अस्त्र विकसित कर लिया। लेकिन 1956 के बाद जब सोवियत संघ सामाजिक साम्राज्यवाद में बदल गया, तो अमरीका के साथ प्रतिद्वन्द्विता के चलते वह खुद भी हथियारों की होड़ में शामिल हो गया।

बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि ब्रिटेन को अमरीका ने ही 1952 में नाभिकीय अस्त्र प्रदान किये थे और उस पर अमरीका का ही नियन्त्रण था। दगाल के नेतृत्व में फ्रांस ने अमरीकी प्रभुत्व को चुनौती देते हुए नाभिकीय शक्ति विकसित की। चीन ने अमरीका और रूस से नाभिकीय खतरे की आशंका को देखते हुए आत्मरक्षा के लिए 1964 में नाभिकीय हथियार विकसित किया। इस तरह नाभिकीय अस्त्रों के प्रसार में साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्द्विता और साम्राज्यवाद से बचाव, दोनों ही कारकों की भूमिका रही है जिसके केन्द्र में अमरीकी साम्राज्यवाद रहा है।

परमाणु-अप्रसार का अमरीकी पाखण्ड

नाभिकीय हथियारों के खिलाफ अमरीकी अभियान पूरी तरह फर्जी और दोहरे मानदण्डों पर आधारित है। उसका मकसद निरस्त्रीकरण नहीं बल्कि परमाणु हथियारों पर साम्राज्यवादी देशों का एकछत्र अधिकार कायम रखना है, अन्यथा परमाणु अप्रसार सन्धि की शर्तों का पालन करते हुए सबसे पहले उन्हें ही अपने हथियारों को नष्ट करना चाहिए था जो सिर से पाँव तक नाभिकीय हथियारों से लदे हैं। अप्रसार की बात तो दूर, अपने घृणित साम्राज्यवादी मन्सूबों और रणनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ये देश खुद ही नाभिकीय हथियारों का प्रसार करते रहे हैं। जानकार लोगों का मानना है कि अमरीका ने अरब देशों पर अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए इजराइल को 100 से भी अधिक नाभिकीय हथियारों से सुसज्जित किया है।

हेनरी किसिंजर और देंग सियाओ-पिङ ने पाकिस्तान को नाभिकीय तकनीक देने का निर्णय किया था क्योंकि 1974 में भारत ने परमाणु परीक्षण कर लिया था। फ्रांस ने तो 1970 के दशक में ही 90% प्लूटोनियम सेपरेशन प्लाण्ट और उससे सम्बन्धित तकनीक पाकिस्तान को दे दी थी। 1980 के दशक में चीन ने उसे परमाणु बम की तकनीक दी। इस पूरे मामले को अमरीका ने न सिर्फ नजरअन्दाज किया बल्कि उसने पाकिस्तान के परमाणु कार्यक्रम को पूरा संरक्षण भी दिया। चीन, 1992 में परमाणु अप्रसार सन्धि पर दस्तखत करने के बाद भी पाकिस्तान को तकनीक देता रहा।

पूर्व डच प्रधानमन्त्री रूड ल्यूबर्स के मुताबिक जब उन्होंने सेण्ट्रीफ्यूज संवर्धन से सम्बन्धित कुछ ड्राइंग और दस्तावेज चुराने के आरोप में डॉ. अब्दुल कादिर खान पर मुकद्दमा चलाना चाहा तो सी.आई.ए. ने उन्हें डॉ. खान को छोड़ देने की सलाह दी। पाकिस्तान द्वारा परमाणु बम बना लिये जाने के बाद भी डॉ. खान के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई। कारण यह कि डॉ. खान पाकिस्तान की हथियार निर्माण की योजनाओं में एक वैज्ञानिक की हैसियत से नहीं बल्कि यूरोप की विभिन्न कम्पनियों से तकनीक, संयन्त्र और सामग्री हासिल करने वाले एजेण्ट की हैसियत से शामिल था। इन्हीं कम्पनियों के एजेण्ट के रूप में डॉ. खान ने 1987 में ईरान को, 1994 में उत्तर

कोरिया को और 2000 के शुरू में लीबिया को यह तकनीक उपलब्ध करवायी। यह सब कुछ सी.आई.ए. और अमरीका की करतूतों का ही नतीजा था और उनकी जानकारी में हुआ था।

सद्दाम हुसैन जब अमरीका का चहेता था तो उसने पश्चिमी देशों से ही नाभिकीय हथियार परियोजना के लिए संयन्त्र और तकनीक हासिल की थी। यहाँ तक कि ईरान को भी सी.आई.ए. ने ही परमाणु बम बनाने से सम्बन्धित नक्शे उपलब्ध करवाये। (सी.आई.ए. ने ईरान को गलत नक्शे दिये थे जिन्हें सुधारकर अब वह नाभिकीय परीक्षण की तैयारी कर रहा है।) यह सब कुछ एक सोची-समझी रणनीति के तहत किया गया।

यूरोपीय इण्टेलिजेंस की एक रिपोर्ट के मुताबिक दुनिया नाभिकीय हथियारों के लिए एक शॉपिंग मॉल है और कम्पनियों के बोर्डरूम और यूरोप के विश्वविद्यालय बाण्ड स्ट्रीट हैं। जाहिर है कि खुद साम्राज्यवादी देश और उनकी नाभिकीय संयन्त्र और हथियार बनाने वाली कम्पनियाँ ही परमाणु हथियारों की सबसे बड़ी प्रसारक हैं।

ईरान में परमाणु परीक्षण रोकने का अमरीका को क्या अधिकार है जबकि...

इजराइल को परमाणु हथियारों के जखीरे खुद अमरीका ने मुहैया किये हैं क्योंकि मध्यपूर्व में उसका सबसे बड़ा लठैत वही है। जब हेरात में नाटो की सेनाएँ और तमाम हथियार तैनात हैं और फारस की खाड़ी में तमाम आधुनिक अस्त्र-शस्त्र से लैस अमरीका की नौसेना गश्त कर रही है तो ईरान को परमाणु हथियार बनाने से रोकने का क्या औचित्य है?

दुनिया भर में हथियारों की होड़ शुरू करने और अशान्ति फैलाने वालों को दूसरों को आत्मरक्षा के अधिकार से भी वंचित करने का क्या हक है? वे दूसरों को निरस्त्रीकरण के उपदेश दे रहे हैं और उन पर दबाव डाल रहे हैं कि वे हथियार न बनायें लेकिन खुद रोज-ब-रोज आधुनिकतम हथियार बनाते जा रहे हैं। क्या अमरीका के मिसाइल डिफेंस कार्यक्रम तथा इंग्लैण्ड की आधुनिकतम नाभिकीय अड्डों और ट्राइडेण्ट मिसाइलों के निर्माण पर 25 अरब पाउण्ड (लगभग 1,950 अरब रुपये) खर्च करने की घोषणा का मकसद दुनिया में शान्ति स्थापित करना है? उनका एकमात्र उद्देश्य है किसी भी कीमत पर दुनिया में अपना वर्चस्व कायम रखना। यही वजह है कि परमाणु परीक्षण के लिए भारत पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने वाला अमरीका भारत सरकार को अपना ''रणनीतिक साझेदार'' बनाने के लिए रातो-रात एक नयी भाषा बोलने लगा।

सच्चाई यह है कि ईरान के पास परमाणु हथियार हो जाने से इस क्षेत्र में युद्ध भड़कने के बजाय इससे युद्ध को टालने में ही मदद मिलेगा। परमाणु बम एक बहुत बड़ा युद्ध-निरोधक है। यदि ईरान के पास भी परमाणु बम हो तो उस पर हमला करने से पहले अमरीका या इजराइल को हजार बार सोचना पड़ेगा। आज भी यदि ईरान के शासक अमरीका के इशारे पर नाचने को तैयार हो जायें तो परमाणु प्रसार-अप्रसार के अमरीकी स्वांग का पर्दा गिर जायेगा।

हथियारों की होड़ की वजह साम्राज्यवाद

इन्सानियत की तरक्की और खुशहाली चाहने वाला हर व्यक्ति स्वाभाविक रूप से नाभिकीय हथियारों और दूसरे तमाम हथियारों के प्रसार के बिल्कुल खिलाफ, दुनिया के पूर्ण निरस्त्रीकरण का हिमायती होता है। विश्व शान्ति का तकाजा है कि सभी तरह के विनाशकारी हथियारों का उन्मूलन होना चाहिए और नाभिकीय हथियारों का तो तत्काल ही हो जाना चाहिए। लेकिन वर्गों और अन्तरविरोधों की मौजूदा दुनिया में क्या ऐसा हो पाना सम्भव है? यह हमारी सदिच्छा तो हो सकती है, यथार्थ में उनका खात्मा सम्भव नहीं होगा। इसलिए निरपेक्ष शान्ति की बात करना वस्तुगत रूप से साम्राज्यवाद का ही पक्ष-पोषण होता है।

जब तक दुनिया में साम्राज्यवाद मौजूद रहेगा, शक्तिशाली देशों द्वारा कमजोर देशों को गुलाम बनाने और उन्हें लूटने की प्रवृत्ति मौजूद रहेगी, तब तक युद्ध भी होते रहेंगे और हथियारों की होड़ भी जारी रहेगी। यह स्थापित तथ्य है कि अन्य देशों के पास भी परमाणु बम मौजूद हो तो यह साम्राज्यवादी या विस्तारवादी प्रवृत्ति रखने वाले देशों और युद्ध पर प्रभावी रोक (डिटरेंस) का काम करता है। इस आशंका के चलते कि हारने वाला देश परमाणु बम का प्रयोग कर सकता है, ताकतवर देश उस पर हमला करने से बाज आते हैं।

परमाणु हथियारों पर साम्राज्यवादी देशों का एकाधिकार टूटने से दुनिया में अपेक्षतया शान्ति होगी। इसलिए अगर कोई देश आत्मरक्षा के उद्देश्य से परमाणु बम बनाता है, तो इसमें कुछ भी गलत नहीं है। दुनिया से हथियारों की होड़ और परमाणु विनाश का खतरा पूरी तरह तभी समाप्त होगा जब शहीद भगत सिंह के शब्दों में ''एक देश द्वारा दूसरे देश का और एक आदमी द्वारा दूसरे आदमी का शोषण समाप्त हो जायेगा।'' p

समाचार-विचार

लोकतन्त्र का मन्दिर या सुअरबाड़ा?

अमरीका में सांसदों की खरीद फरोख्त करने वाले एक लॉबिस्ट जैक अब्रामौफ के ऊपर षड्यन्त्र, धोखाधड़ी और टैक्स चोरी के आरोप में मुकद्दमा चलाया जा रहा है। अभियोग पक्ष के मुताबिक अमरीकी सांसदों से निगमों के पक्ष में फैसला करवाने के लिए वह उन्हें चुनाव के लिए चन्दा देता था और उनके लिए पाँच सितारा खान-पान सुविधाओं, अय्याशियों और सैर-सपाटे की व्यवस्था करता था।

अब्रामौफ अमरीका के कुल 35 हजार रजिस्टर्ड लॉबिस्टों में से एक है। 1998 के बाद संसद से अवकाश ग्रहण करने वाले 40% से ज्यादा अमरीकी सांसद इसी धंधे में लगे हुए हैं। ये लॉबिस्ट साल भर में एक सांसद को औसतन 2.5 करोड़ डॉलर (110 करोड़ रुपया) घूस देते हैं। इन घूस खाने वालों में केवल अदने सांसद ही नहीं बल्कि कई पुराने राष्ट्रपति-उपराष्ट्रपति और वर्तमान राष्ट्रपति बुश जैसी हस्तियाँ भी शामिल हैं।

अब्रामौफ अमरीकी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के पतन का प्रतीक पुरुष है और वहाँ की संसद चोर-उच्चकों, ठगों और अपराधियों का अड्डा है। सर्वेक्षणों के मुताबिक 49% अमरीकी नागरिक मानते हैं कि उनके सांसद भ्रष्ट हैं, जबकि 79% अमरीकियों की नजर में ''देश की दोनों पार्टियाँ समान रूप से भ्रष्ट'' हैं। हाल ही में अब्रामौफ ने अपने खिलाफ भ्रष्टाचार और घूसखोरी की जाँच में सहयोग करने की घोषणा की है। उसकी इस घोषणा से आपाद-मस्तक भ्रष्टाचार में डूबे अमरीकी शासन तन्त्र में हड़कम्प मच गया है।

हमारे देश की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। बोफोर्स दलाली, हवालाकाण्ड, तहलका, चारा घोटाला, यूरिया घोटाला और ऐसे न जाने कितने काण्डों ने भारतीय सांसदों के भ्रष्टाचार का पहले ही सबके सामने पर्दाफाश कर दिया था। बोहरा कमेटी की रिपोर्ट सत्ता के शीर्ष पर विराजमान लोगों के भ्रष्टाचार का कच्चा चिट्ठा है, जिसे अब तक प्रकाशित नहीं किया गया। हवालाकाण्ड से जुड़े जैन बन्धुओं की डायरी में वामपन्थी पार्टियों को छोड़कर लगभग सभी पार्टियों के नेताओं के नाम और उन्हें दी गयी घूस की राशि का पूरा ब्यौरा दर्ज था। सी.बी.आई. को सुखराम के घर में अकूत दौलत मिली थी, जिसके बारे में बड़े ही भोलेपन के साथ उसने कहा था कि मुझे पता नहीं कि ये सब कहाँ से आ गया। संसद जितनी पुरानी है, उसका भ्रष्टाचार भी उतना ही पुराना है। देश की पहली लोकसभा ने ही एच.जी. मुद्गल नाम के सांसद को घूस लेने के जुर्म में संसद से निकाला था। हाल के स्टिंग ऑपरेशनों में सांसदों के घूस लेते रंगे हाथ पकड़े जाने और संसद की तथाकथित गरिमा को बचाने के नाम पर उन्हें संसद से निकाल बाहर किये जाने के बाद लोकतन्त्र को लेकर जनता का रहा-सहा भ्रम भी खत्म हो गया है। लेकिन भ्रष्टाचार की ये घटनाएँ तो पानी में तैरती विशाल बर्फीली चट्टान का ऊपर दिखने वाला छोटा-सा हिस्सा मात्र हैं। आम जनता की निगाह में नेता और भ्रष्टाचार दोनों समानार्थी हैं।

यह वही भारतीय संसद हैं जिसे जार्ज फर्नाण्डिस ने किसी समय सुअरबाड़ा कहा था। विचित्र विरोधाभास है कि वे आज

जहाँ नारी की पूजा होती है...

हमारे देश में अल्ट्रासाउण्ड परीक्षण करवाकर हर साल 5 लाख बच्चियाँ माँ के गर्भ में ही मार दी जाती हैं। पिछले 20 वर्षों के दौरान देश भर में कम से कम एक करोड़ कन्याभ्रूण हत्याएँ की गयी।

देश के 11 लाख परिवारों के बारे में 1998 में की गयी जाँच पड़ताल और शोध से यह दिल दहला देने वाली सच्चाई सामने आयी। लांसेट जर्नल में छपे इस शोध में बताया गया है कि कन्याभ्रूण हत्या करवाने वालों में सबसे आगे हैं हमारे देश के ''शिक्षित'' और ''सम्पन्न'' लोग। अगर पहली सन्तान लड़की हुई तो लड़के की चाह में दूसरी और तीसरी बार कन्याभ्रूण हत्या की सम्भावना और भी अधिक होती है।

यह है औरत को देवी मानने वाले समाज का विद्रूप चेहरा! शोध के नतीजे भारतीय समाज के पाखण्ड का पर्दाफाश कर देते हैं। अजन्मी कन्याओं की लाशों के इस ढेर पर देवियों के 'मन्दिर' खड़े करने और 'देवी जागरण' आयोजित करने में हमारे समाज को कोई शर्म महसूस नहीं होती। भारत की महान सभ्यता और संस्कृति के गीत गाने वाले शिक्षित मध्यवर्ग के लोग ही निर्द्वन्द्व भाव से यह काम कर रहे हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था में यह तय है कि माँ-बाप की सम्पत्ति का वारिस बेटा ही हो सकता है। धार्मिक कर्मकाण्ड के मुताबिक बेटे के द्वारा मुखाग्नि देने से ही माँ-बाप को मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए इस समाज को सिर्फ लड़के की चाहत है। लड़की अनिच्छित गर्भ है।

इस स्वार्थ ने हमारे समाज को अन्धा, क्रूर और बर्बर बना दिया है। इसी घृणित मानसिकता को मुनाफे में बदलने के लिए पिछले 20 सालों में भ्रूण परीक्षण करने वाले क्लीनिक हर छोटे-बड़े शहर में कुकुरमुत्ते की तरह उग आये हैं। हालाँकि जन्म के पहले लिंग-परीक्षण कानूनन जुर्म है फिर भी यह आपराधिक कुकर्म धड़ल्ले से चल रहा है। इसी नृशंसता के कारण लिंग-अनुपात में कमी आ रही है तथा देश के कई इलाकों में शादी की उम्र पार कर चुके कुँवारे लोगों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। लाखों परिवारों के सामने वंश-वृक्ष सूख जाने की नौबत आ गयी है।

क्या यह बेहतर नहीं होगा कि औरत को देवी मानने का ढोंग-पाखण्ड छोड़कर यह समाज एक इन्सान के रूप में उसकी अस्मिता और अस्तित्व को स्वीकार कर ले? p

समाचार-विचार

अलजजीरा और टेलीसूर : साम्राज्यवादी वर्चस्व को चुनौती

पिछले वर्ष जुलाई महीने में वेनेजुएला, क्यूबा, अर्जेण्टीना और उरुग्वे ने मिलकर एक सामूहिक टी.वी. चैनल टेलीसूर (दक्षिण का टेलीविजन) की शुरुआत की। इसका मकसद दक्षिणी अमरीकी देशों में साम्राज्यवादी अमरीकी और यूरोपीय चैनलों द्वारा किये जा रहे दुष्प्रचार का मुकाबला करना और उनके व्यावसायिक कार्यक्रमों के समानान्तर सामाजिक आन्दोलनों, आम जनता और कस्बों-गाँवों तक पहुँचने का प्रयास करना है। एक घण्टे का समय ऐसे कार्यक्रमों के लिए रखा गया है जिसमें स्थानीय समुदाय खुद अपने क्रिया-कलापों का ब्यौरा देंगे। टेलीसूर इस क्षेत्र की विभिन्न सरकारों को जनपक्षधर टी.वी. कार्यक्रम बनाने के लिए प्रोत्साहन देगा तथा लातिन अमरीका और बाकी दुनिया का पक्ष पोषण करने वाले कार्यक्रम दिखायेगा।

इस क्षेत्रीय चैनल की शुरुआत उस समय की गयी है जब लातिन अमरीका के देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं, संसाधनों और अपने समाचार माध्यमों पर पहले से ज्यादा नियन्त्रण कायम किया है और वे अमरीकी वर्चस्व को उसके पिछवाड़े में ही सीधी चुनौती देने का प्रयास कर रहे हैं। जल्दी ही यह चैनल उत्तरी अमरीका, यूरोप और उत्तरी अफ्रीका में भी अपने कार्यक्रम प्रदर्शित करेगा।

टेलीसूर के प्रसारण शुरू होने के तीन दिन पहले ही अमरीकी संसद ने वेनेजुएला की जनता को ''लगातार सही, वस्तुपरक और समग्र जानकारी'' उपलब्ध करवाने के नाम पर अपने साम्राज्यवादी दुष्प्रचार के लिए सिर्फ वेनेजुएला में प्रसारित होने वाले एक नये चैनल की शुरुआत करने का फैसला किया था। इस चैनल के प्रायोजकों की नजर में टेलीसूर की स्थापना अमरीका के लिए खतरे की घण्टी है, जो ह्यूगो शावेज के ''अमरीका-विरोधी'', ''आजादी-विरोधी'' शब्दाडम्बरों को प्रसारित करके अमरीका के खिलाफ अपने पक्ष में जनमत तैयार करेगा। उन्होंने टेलीसूर की तुलना अलजजीरा से की है जो उनकी नजर में अमरीका विरोधी दुष्प्रचार का गढ़ है। साम्राज्यवादी प्रचार माध्यमों का यह भय अकारण नहीं है।

जब 2002 में वेनेजुएला के धन्नासेठों और शावेज-विरोधियों द्वारा नियन्त्रित सभी टी.वी. चैनल सैनिक तख्तापलट का एक स्वर से समर्थन कर रहे थे, तब अमरीका को सही और वस्तुपरक समाचारों की चिन्ता बिल्कुल नहीं सता रही थी। यही नहीं, टेलीसूर की स्थापना के एक महीने बाद अमरीकी राष्ट्रपति बुश के एक घनिष्ठ सहयोगी कट्टरपन्थी इसाई रेव पैट राबर्टसन ने अपने क्रिश्चियन ब्रॉडकास्टिंग नेटवर्क पर सीधे प्रसारण में शावेज की हत्या का आह्वान करके अपने घृणित मन्सूबों का खुला इजहार किया था।

यह तो अमरीका के ''सही और वस्तुपरक'' प्रसारणों की एक बानगी मात्र है। दुनिया जानती है कि किस बेशर्मी के साथ 1980 के दशक में अमरीकी समाचार माध्यमों ने पूर्वी यूरोप के देशों की पूर्व समाजवादी सरकारों के खिलाफ कुत्सा प्रचार की आँधी चलायी थी। इराक युद्ध के बारे में अमरीकी फौज की गोद में बैठे (इम्बेडेड) पत्रकारों द्वारा गढ़ी गयीं खबरें किस तरह पूरी दुनिया में प्रसारित होती रहीं, इसे भला कौन नहीं जानता।

इराक और मध्यपूर्व के बारे में अमरीकी कारगुजारियों का भण्डाफोड़ करने वाला अरबी भाषा का एक लोकप्रिय चैनल काफी अरसे से अमरीका की आँख की किरकिरी बना हुआ है। अमरीकी और ब्रिटिश अखबारों ने हाल ही में यह खुलासा किया है कि बुश और ब्लेयर ने अलजजीरा पर हमला करके उसे ध्वस्त कर देने की योजना बनायी थी, युद्ध के दौरान अमरीकी सेना ने 2001 में उसके काबुल के और 2004 में बगदाद के दफ्तरों पर हमला किया था। उठते-बैठते, सोते-जागते स्वतन्त्रता की माला जपने वाले बुश के लिए एक स्वतन्त्र समाचार माध्यम को बर्दाश्त करना इसलिए गँवारा नहीं कि उसके पत्रकार फौज के घेरे में रहने के बजाय इराक में जान पर खेलकर समाचार एकत्र करते हैं और अमरीकी झूठ का पर्दाफाश करते हैं।

समाचार माध्यमों का गला घोंटना साम्राज्यवादियों के लिए कोई नयी बात नहीं। 1999 में युगोस्लाविया के रेडियो टेलीविजन सर्बिया के बेलग्रेड स्टूडियो पर हमला करके नाटो सैनिकों ने 16 नागरिकों की हत्या की थी। अलजजीरा को पहले उन्होंने खरीदने और बन्द करवाने के लिए कतर की सरकार पर दबाव डाला। जब सफल नहीं हुए तो उसे बम से उड़ाना चाहा। लेकिन आज भी वह सच बोल रहा है और साम्राज्यवादियों के मन में दहशत पैदा कर रहा है।

अलजजीरा का खौफ अभी टला भी नहीं था कि टेलीसूर की स्थापना हो गयी। ये चैनल अमरीकी प्रचार माध्यमों के वर्चस्व को सीधी चुनौती हैं जो अपने प्रचार की आँधी चलाकर स्याह को सफेद करने में दिन-रात जुटे रहते हैं।

यह दुनिया की मेहनतकश जनता के लिए एक आशाजनक

विडम्बना

अमरीकी राष्ट्रपति बुश देश की सीमाओं को नहीं मानता और राष्ट्रों की सम्प्रभुता को अप्रासंगिक बताता है...

लेकिन अपने देश में वह पेट्रियट कानून पास करवाता है और इराक युद्ध का विरोध करने वालों को देशद्रोही मानता है।

देश आजादी चाहते हैं, राष्ट्र मुक्ति चाहते हैं, जनता क्रान्ति चाहती है

बोलीविया में राष्ट्रपति चुनाव

– ज्ञानेन्द्र

लातिन अमरीकी देशों में विश्वबैंक, मुद्राकोष और अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में साम्राज्यवादी समूह द्वारा थोपी गयी नीतियों का दिवाला पिट चुका है, इनके खिलाफ एक के बाद एक देश में जनता उठ खड़ी हो रही है।

अर्जेण्टीना, वेनेजुएला, उरुग्वे और इक्वाडोर में जनता इन नीतियों को रद्द कर चुकी है और अपना अस्तित्व बचाने के लिए वहाँ का शासक वर्ग भी उन्हें छोड़ने के लिए बाध्य है।

वेनेजुएला में गड़बड़ी फैलाने और चुनी हुई सरकार का तख्तापलट करवाने के अमरीका के लाख प्रयासों के बावजूद ह्यूगो शावेज सत्ता में मौजूद है और अमरीकी साम्राज्यवाद को चुनौती दे रहा है।

इसी रुझान की अगली कड़ी है बोलीविया, जहाँ की जनता ने एक मूल निवासी इवो मोरालेस को देश का राष्ट्रपति चुनकर इतिहास रचा है।

सच तो यह है कि पूरे लातिन अमरीका के 200 सालों के इतिहास में पहली बार कोई मूल निवासी (अयमारा) राष्ट्रपति पद के लिए चुना गया है। इवो मोरालेस कोका की खेती करने वाले किसानों का नेता है और खुद भी एक ऐसे ही किसान परिवार का सदस्य है।

कोका अमरीका के मूल निवासियों द्वारा प्राचीन काल से उगायी जाने वाली फसल है जो दवाई और खानपान में काम आता है। इससे कोकीन भी बनता है। अमरीका इसकी खेती करने वालों का नशीली वस्तु के खिलाफ युद्ध के नाम पर दमन करता है।

बोलीविया की आजादी के बाद के 180 सालों के इतिहास में पहली बार किसी राष्ट्रपति को 54% वोट मिले हैं। मौजूदा संविधान के मुताबिक 50% से कम वोट मिलने पर देश की संसद अपने भीतर से राष्ट्रपति का चुनाव कर सकती है। इसी कानूनी चोर दरवाजे का लाभ उठाकर देश के मुट्ठीभर थैलीशाह खरीद-फरोख्त और जोड-तोड़ करके अपने चहेते आदमी को राष्ट्रपति बनाया करते थे। लेकिन इस बार जनता के बहुमत ने संसद में होने वाले इस खेल की गुंजाइश ही समाप्त कर दी है।

एण्डीज के पहाड़ी ढलानों पर बसा बोलीविया लातिन अमरीका का एक छोटा सा देश है। यहाँ की अधिकांश उर्वर जमीनों तथा टिन और प्राकृतिक गैस के विशाल भण्डारों पर चन्द बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, यूरोप से आकर बसे मुट्ठी भर गोरों और मिश्रित रक्त (मेस्तीजो) आबादी के छोटे से विशिष्ट वर्ग का कब्जा है। दूसरी ओर काले लोग और मिश्रित रक्त वाले लोग, जो पूरी आबादी के बहुलांश हैं, तथा यहाँ की गरीब मेहनतकश जनता स्पेन से आजादी मिलने के 180 साल बाद भी हर तरह के अधिकारों से वंचित है। इवो मोरालेस की जीत इसी शोषित-उत्पीड़ित वर्ग की राजनीतिक चेतना और उनकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है।

पिछले 5 सालों में अपने जुझारू संघर्षों के बल पर बोलीविया की जनता ने पानी और प्राकृतिक गैस के निजीकरण के सरकारी प्रयासों को विफल कर दिया, 'जलयुद्ध' और 'गैस युद्ध' के दौरान 70 से भी ज्यादा लोगों ने शहादतें दीं और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के नुस्खे को बोलीविया की जनता पर थोपने वाली चार सरकारों को उखाड़ फेंका। इवो मोरालेस की जीत मूलनिवासियों, खान मजदूरों और मिश्रित रक्त आबादी के इसी आन्दोलन का नतीजा है। अपने अधिकारों के लिए मूल निवासियों का यह आन्दोलन, खासतौर पर एण्डीज पर्वतमाला के देशों-पेरू और इक्वाडोर में भी सशक्त रूप धारण करता जा रहा है, जहाँ इस साल चुनाव होने वाले हैं।

इवो को जिताकर बोलीविया की जनता ने एक बार फिर अपने इन्हीं इरादों का इजहार किया है। फिदेल कास्त्रो के शब्दों में ''यह अमरीका की असली खोज की घड़ी है– मूलनिवासियों, कालों और मेस्तीजो लोगों का अमरीका, सीमोन बोलीवार और जोसमार्ती का अमरीका'' ... बोलीविया की जनता क्रान्ति चाहती है।

लातिन अमरीका के दूसरे तमाम देशों की तरह बोलीविया भी पिछले 500 सालों से यूरोपी उपनिवेशवादियों और अमरीकी साम्राज्यवादियों की लूट, शोषण, दमन और उत्पीड़न का शिकार रहा है। स्पेनी उपनिवेशवादियों ने यहाँ के मूलनिवासियों को अपनी जमीनों और प्राकृतिक संसाधनों से बेदखल किया, उन्हें लूटा-खसोटा और जघन्यतम नरसंहारों को अन्जाम दिया। बोलीविया

आपसी सहकार की नयी मिसाल

बोलीविया की नयी सरकार के साथ एकजुटता का इजहार करते हुए क्यूबा बोलीविया को साक्षरता अभियान के लिए सभी तरह की तकनीकी सहायता और कार्यकर्ता मुहैया करेगा। अगले दो सालों में वह बोलीविया के 5,000 मेडिकल छात्रों को मुफ्त शिक्षा देगा और सभी जरूरी सुविधाओं, उपकरणों, कर्मचारियों और डॉक्टरों सहित गरीब लोगों की आँखों के मुफ्त इलाज के लिए तीन अस्पताल खोलेगा।

इसी तरह वेनेजुएला ने भी बोलीविया के कृषि उत्पादों के बदले में उसकी जरूरत का पूरा डीजल, लगभग 1.5 लाख बैरल प्रति माह देने का करार किया है। जिसके दम पर बोलीविया बहुराष्ट्रीय निगमों और अमरीका की ओर से पड़ने वाले आर्थिक दबावों का मुकाबला कर सकता है।

की छाती पर लूट के उन अभियानों के घाव आज भी ताजा हैं। इन सुनियोजित अभियानों का ही नतीजा है कि आज लातिन अमरीका में मूल निवासियों की आबादी मात्र 6% रह गयी है, और वे हर तरह के अधिकारों से वंचित, अपनी ही जमीन पर शरणार्थी का जीवन जीने के लिए विवश हैं।

एंग्लोस्पेनिश युद्ध के दौरान लातिन अमरीका के अन्य देशों के साथ 1825 में बोलीविया भी आजाद हो गया लेकिन इसके पहले कि यहाँ की जनता आजादी की खुली हवा में साँस ले पाती, अमरीकी राहु ने उनकी आजादी को ग्रस लिया। अमरीका के साम्राज्यवादी मन्सूबे 'मुनरो सिद्धान्त' के रूप में सामने आये जिसके तहत उसने लातिन अमरीका को अपना स्थायी प्रभाव क्षेत्र बनाने का दावा पेश किया। फिलीपींस और लातिन अमरीकी देश उसके पहले उपनिवेश बने।

नवउनिवेशवादी अमरीका ने अपने पिट्ठुओं और कठपुतली तानाशाहों के जरिये इन देशों की जमीनों और प्राकृतिक संसाधनों की भयावह लूट की, उनकी अर्थव्यवस्थाओं को पूरी तरह खोखला कर दिया, उनकी आजादी को मजाक बना कर छोड़ दिया। अपनी बर्बर लूट और शोषण को कायम रखने के लिए उसने सैनिक दखलन्दाजी, सशस्त्र हस्तक्षेप और नृशंस दमन का सहारा लिया।

बोलीविया का इतिहास भी अमरीकी लूट और हस्तक्षेप की एक दास्तान है। 1825 से अब तक अमरीका ने वहाँ 200 बार तख्तापलट करवाये और जनता की आकांक्षाओं को बुरी तरह कुचला। '50-'60 के दशक के क्रान्तिकारी उभार को कुचलने के लिए अमरीका ने बोलीविया के सरकार की आर्थिक और सैनिक, दोनों स्तरों पर मदद की और बड़ी संख्या में सैनिक अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया। आज भी अमरीका की दखलन्दाजी थमी नहीं है।

''नशीली दवाओं के खिलाफ युद्ध'' के नाम पर अमरीका बोलीविया के कोका किसानों को लम्बे समय से उत्पीड़ित करता रहा है और इसे हस्तक्षेप के बहाने के तौर पर इस्तेमाल करता रहा है। ताजा राजनीतिक घटनाओं को देखते हुए उसने बोलीविया से सटे पैरागुए में अपने सैनिक और हथियार जमा करने शुरू कर दिये हैं। सेना में भीतर से बगावत के लिए उसने अमरीका में प्रशिक्षण ले रहे बोलीवियाई सैन्य अधिकारियों की संख्या वर्ष 2000 से 2003 के बीच 531 से बढ़ाकर 2,054 कर दी। साथ ही उसने पिछली सरकार को सैनिक और आर्थिक सहायता के नाम पर 15 करोड़ डालर दिये।

2002 के चुनावों में अमरीकी राजदूत ने बोलीविया की जनता को चेतावनी दी थी कि यदि इवो मोरालेस को चुना गया तो अमरीका उसकी आर्थिक सहायता बन्द कर देगा। उस चुनाव में तो इवो मोरालेस कुछ मतों के अन्तर से हार गया था लेकिन आगे चलकर अमरीका का यह दाँव उल्टा पड़ा और इससे इवो की लोकप्रियता और भी तेजी से बढ़ गयी।

इवो को जिताकर बोलीविया के कोका किसानों, मूल निवासियों और मेहनतकश जनता ने अमरीकी साम्राज्यवाद को सीधी चुनौती दी है। खिसियाये हुए साम्राज्यवादी मीडिया ने इसे ''स्वतन्त्रता के लिए बुरी खबर'' की संज्ञा दी है। (*वालस्ट्रीट जर्नल* का सम्पादकीय, 23 दिसम्बर 2005।) इतनी बेहयाई की उम्मीद उन्हीं से ही की जा सकती है कि 180 साल के रिकार्ड बहुमत और जनआकांक्षाओं के इजहार को स्वतन्त्रता के लिए बुरी खबर बतायें।

2000-2005 के बीच बोलीविया की जनता अपने व्यापक और सशक्त आन्दोलनों के माध्यम से बार-बार राजनीतिक पार्टियों के सामने अपनी माँगें पेश करती रही है। प्राकृतिक गैस के भण्डारों, उत्पादन और वितरण के राष्ट्रीयकरण की माँग को लेकर दो गैस युद्ध लड़े गये, पानी जैसे जीवन के लिए जरूरी प्राकृतिक संसाधन पर सार्वजनिक नियन्त्रण बनाये रखने के लिए और उसे मुनाफे का साधन बनने से रोकने के लिए दो जलयुद्ध लड़े गये। लोगों की एक माँग यह भी थी कि बोलीविया के पुनर्निमाण के लिए संविधान सभा बुलायी जाये जो गरीबों और मूलनिवासियों की बहुसंख्यक आबादी के हितों का प्रतिनिधित्व करे। इन माँगों को नजरअन्दाज करने वाली पिछली चार सरकारों को जनान्दोलन के ज्वार ने उखाड़ फेंका।

इवो मोरालेस को इसी जनता ने चुना है। उसकी जीत में वह अपनी समस्याओं के हल देख रही है।

चुनाव के पहले से ही इवो ने अमरीका समर्थित मुक्त व्यापार क्षेत्र (एफ.टी.ए.ए.) की जगह शावेज द्वारा प्रस्तावित अमरीकी देशों के संघ (ए.एल.बी.ए.) का समर्थन किया। नवम्बर में अर्जेण्टीना में एफ.टी.ए.ए. के खिलाफ हुए विरोध प्रदर्शनों में भी वह शामिल हुआ तथा उसे ''अमरीकी देशों के औपनिवेशीकरण को वैधता प्रदान करने वाला समझौता'' बताया।

अमरीका के विरोध की परवाह न करते हुए इवो लातिन अमरीकी देशों के आपसी भाईचारे और एकजुटता के लिए क्यूबा के नेता फिदेल कास्त्रो और वेनेजुएला के राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज द्वारा किये जा रहे प्रयासों का समर्थन कर रहा है और खुद को उनका अनुयायी मानता है। चुनाव जीतने के बाद उसने सबसे पहले क्यूबा और वेनेजुएला से परस्पर सहयोग के लिए समझौते किये हैं। फिदेल और शावेज के साथ इवो का नजदीकीपन बोलीवियाई जनता के भीतर मौजूद प्रबल साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं की अभिव्यक्ति है।

आज लातिन अमरीका में अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ

एक मजबूत रुझान स्पष्ट दिखाई दे रहा है जिसके अगुवा क्यूबा और वेनेजुएला हैं। अमरीकी साम्राज्यवाद पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए वेनेजुएला की पहलकदमी पर कुछ देशों द्वारा अपनी तेल और प्राकृतिक गैस कम्पनियों को मिलाकर पेट्रोसूर कम्पनी बनाने, व्यापारिक संघ मर्कोसूर बनाने, अपना एक लातिन अमेरिकी बैंक खोलने के फैसले और साम्राज्यवादी मीडिया द्वारा किये जा रहे दुष्प्रचार का मुकाबला करने के लिए टी.वी. चैनल टेलीसूर (दक्षिण का टेलीविजन) शुरू करने का फैसला, उनके इसी सहकार की दिशा में उठाये गये कदम हैं। वेनेजुएला द्वारा कैरिबियाई देशों और संयुक्त राज्य अमरीका की गरीब जनता को सस्ता तेल देने का फैसला, क्यूबा और वेनेजुएला के बीच समाजवादी आधार पर सेवाओं और माल की अदला-बदली (बार्टर) करने का समझौता तथा क्यूबा और वेनेजुएला द्वारा बोलीवियाई जनता की शिक्षा, मुफ्त इलाज और जरूरत भर तेल की आपूर्ति के लिए किये गये समझौते इस क्षेत्र में बढ़ते भाईचारे और साम्राज्यवाद विरोधी एकजुटता के परिचायक हैं।

लातिन अमरीका के इस साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन की धुरी क्यूबा है जहाँ फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में क्रान्तिकारी जनता पिछले 46 सालों से अमरीकी प्रतिबन्धों का बहादुरी से सामना कर रही है। क्यूबा का अनुभव बताता है कि गहन अन्धकार में आँधियों और थपेड़ों से जूझता हुआ कोई दिया अगर किसी तरह टिमटिमाता भी रहे, तो हजारों दियों के जलने की सम्भावना बनी रहती है। क्यूबा की क्रान्तिकारी जनता और उसके नेता फिदेल कास्त्रो ने तमाम कठिनाइयों और अलगाव को झेलकर भी क्रान्ति की लौ को बुझने नहीं दिया, जो आज पूरे लातिन अमरीका को रास्ता दिखा रही है।

लातिन अमरीका के भीतर पहली बार अमरीकी साम्राज्यवाद इतने अलगाव में पड़ा दिखायी दे रहा है। निर्धारित तिथि के एक साल बाद भी वह अपने मुक्त व्यापार क्षेत्र में शामिल होने के लिए लातिन अमरीकी देशों को तैयार नहीं कर सका है। 'अमरीकी देशों के संगठन' के चुनावों में पहली बार उसका चहेता उम्मीदवार पराजित हुआ। वेनेजुएला में लोकतान्त्रिक तरीके से चुनी गयी सरकार का तख्तापलट करवाने के प्रयासों में भी उसने मुँहकी खायी। अमरीकी विरोध और धमकियों के बावजूद पूरे लातिन अमरीका में क्यूबा के पक्ष में समर्थन बढ़ता जा रहा है।

बुश का कहना है कि इराक युद्ध में फँसे होने के कारण उसे लातिन अमरीका में हस्तक्षेप का समय नहीं मिल पाया। जाहिर है अमरीकी साम्राज्यवाद अपनी पूरी ताकत लगाकर जनता की उपलब्धियों को ध्वस्त करने का प्रयास करेगा।

लेकिन लातिन अमरीकी जनता के जुझारू संघर्षों का यह तूफान अब थमने वाला नहीं है। स्पेनी और पुर्तगाली उपनिवेशवाद के काल में और अमरीकी नवउपनिवेशवाद के 200 सालों के इतिहास में लातिन अमरीकी जनता लगातार संघर्षरत रही। कतिपय नेताओं द्वारा बार-बार विश्वासघात के बावजूद भी उसके संघर्ष थमे नहीं।

आज लातिन अमरीका में उठ रही अमरीकी साम्राज्यवाद विरोधी लहर जनता की क्रान्तिकारी भावनाओं को दर्शाती है। अर्जेण्टीना, वेनेजुएला, इक्वाडोर, उरुग्वे और अब बोलीविया के संघर्षों के माध्यम से जनता ने अपने शासकों को स्पष्ट संकेत दे दिया है कि या तो वे देश की सम्पत्ति की कौड़ियों के मोल नीलामी करने और उनके ऊपर कर्जे और टैक्सों का बोझ लादने के मुद्राकोष-विश्वबैंक के नुस्खे पर चलने से बाज आयें या देश से भागने के लिए हेलीकॉप्टर तैयार रखें।

यह सही है कि क्रान्ति की वस्तुगत परिस्थितियाँ चाहे जितनी भी परिपक्व हों, उसकी मनोगत शक्तियों के तैयार और सुदृढ़ हुए बगैर तथा सर्वहारा और मेहनतकशों के मजबूत संगठन के अभाव में एक मुकम्मिल आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति सम्पन्न करना सम्भव नहीं हो पाता। बोलीविया और पूरे लातिन अमरीका के जनसंघर्षों के अनुभव बार-बार इस सच्चाई को सामने ला रहे हैं।

लातिन अमरीका : फिर एक नया सवेरा

कितनी सुबहें धुन्ध में डूबी रहीं फिर भी सूरज ने निकलना बन्द नहीं किया।

कितनी लड़ाइयाँ हारी गयीं, लेकिन क्रान्तिकारी जनता के हौसले कभी पस्त नहीं हुए। आज जब विश्वपटल पर घना अन्धेरा छाया हुआ है, लातिन अमरीका के क्षितिज की लालिमा एक नयी सुबह का संकेत दे रही है।

इक्वाडोर : जनता की बात मानो या भागने के लिए तैयार रहो

अप्रैल 2005 में इक्वाडोर के एक और राष्ट्रपति को चुनाव से पहले ही जनता का कोपभाजन बनना पड़ा। पिछले 10 सालों में 5 राष्ट्रपतियों को वहाँ की जनता हटा चुकी है।

'फेडरेशन ऑफ इण्डिजिनस पीपुल्स ऑफ इक्वाडोर' जैसे मूल निवासियों के संगठन, मध्यवर्गीय प्रदर्शनकारियों के साथ मिलकर सरकार से माँग कर रहे थे कि वह अमरीका के साथ मुक्त व्यापार समझौता करने से बाज आये। जब सुरक्षा बलों ने भी राष्ट्रपति के आदेश पर प्रदर्शनकारियों का दमन करने से इन्कार कर दिया तो राष्ट्रपति को मजबूरन महल छोड़कर भागना पड़ा। क्रुद्ध भीड़ से बचाने के लिए किसी तरह हेलीकॉप्टर से उसे निकाला गया।

नयी सरकार ने देश में अमरीकी फौजों की मौजूदगी का विरोध किया है और जनता से वायदा किया है कि वह वेनेजुएला की तरह तेल से होने वाली आय को जनता के लिए शिक्षा, इलाज जैसी बुनियादी सुविधाओं पर खर्च करेगी।

विश्वविख्यात फुटबाल खिलाड़ी माराडोना की वापसी

डियागो अरमाण्डो माराडोना ने अपनी आत्मकथा *अल डियागो* में लिखा है कि जब उसने ब्यूनस आयर्स के विला फायोरिटो जैसे गरीब इलाके में फुटबाल खेलना शुरू किया, उसके सपनों की स्थिति लिबेरो (मुक्ति-योद्धा) जैसी थी। माराडोना बताता है, ''पूरी पिच मेरे सामने होती थी, मैं समग्रता में पूरे मैच को महसूस कर सकता था, रणनीति बनाता था और पूरे मैदान में दौड़ता था।'' एक फुटबाल खिलाड़ी के रूप में अपने 20 साल के शुरुआती जीवन को मेक्सिको में विश्वकप जीतकर शिखर पर पहुँचाने के बाद वह अपने जीवन के दूसरे चरण में प्रवेश कर गया है– अपनी जोशीली खेल भावना और उसी पवित्र दृष्टिकोण के साथ, जिसने उसे अपने जीवन के पहले भाग में दुनिया के इस सबसे प्रसिद्ध खेल का सबसे प्रसिद्ध खिलाड़ी बनाया, आज वह एक अमरीका विरोधी कार्यकर्ता है।

अर्जेण्टीना के इस महान फुटबाल खिलाड़ी ने अपने पूँजीवाद-विरोधी, अमरीका-विरोधी रुख का इजहार अपने टी.वी. धारावाहिक कार्यक्रम 'ला नोचे डेल टेन' (नम्बर दस की रात) के एक भाग में किया। उसके बाद मार डेल प्लाटा में हुई रैली में उसने बुश को चुनौती दी। यह रैली अमरीका की व्यापारिक नीति के खिलाफ थी और अर्जेण्टीना के शहर में कुछ लातिन अमरीकी देशों के नेताओं के साथ शिखर वार्ता के लिए आ रहे बुश का विरोध करने के लिए इसका आयोजन किया गया था।

आलोचनाएँ

न्यूयार्कटाइम्स के कॉलम लेखक जॉन टायर्ने ने माराडोना को एक पाखण्डी बताते हुए उस पर आरोप लगाया है कि उसने अपने खेल जीवन में दुनिया के निगमों से लाभप्रद सौदे करके खूब धन बटोरा और अब गरीबों के मुक्तिदाता का छद्मवेश धारण कर लिया है।

टायर्ने दूसरे तमाम रुढ़िवादियों की तरह फुटबाल के इस दिग्गज को बाड़ की ''दूसरी'' ओर से देख रहा है। माराडोना के फुटबाल की तरह उसका निजी जीवन भी एक विद्रोही का जीवन है। 1986 में पश्चिमी जर्मनी के खिलाफ फाइनल मैच में विजयी गोल दागने वाले माराडोना के एक साथी फुटबाल खिलाड़ी जार्ज वल्डानो ने लिखा है कि अर्जेण्टीना की झोंपड़पट्टी में पल-बढ़ रहे लोगों के जीवन को समझने में *गेम्बेटा* की अवधारणा की केन्द्रीय भूमिका हैं। *गेम्बेटा* की अवधारणा में दो तत्व शामिल हैं– सर्वोच्च दक्षता, सृजनात्मकता और चतुराई। 1986 के मेक्सिको विश्वकप में क्वार्टर फाइनल में इंग्लैण्ड के खिलाफ दूसरा ''चमत्कारिक गोल'' गेम्बेटा का ही एक भाग था। उसी तरह से पहला विवादास्पद ''खुदा के हाथ'' वाला गोल भी। ''मैंने महसूस किया यह गोल अवैध है। लेकिन रेफरी ने उसे सही गोल मान लिया था। मैंने अपने साथी खिलाड़ियों से कहा कि यदि कोई चोर को लूटे, तो वह 100 साल के लिए क्षमा का पात्र होता है।'' यह बात माराडोना ने अपने टी.वी. धारावाहिक में बतायी। यह स्पष्ट है कि अभिजात अंग्रेजी स्कूलों में तैयार किये गये मॉडलों के नजरिये से खेल भावना को नापने वाले महानुभावों और एक *विलाफायोरिटा* में पले-बढ़े व्यक्ति के बीच बहुत बड़ा फर्क है।

माराडोना खुद को गरीबों का प्रतिनिधि मानता है। अपनी आत्मकथा में वह लिखता है, ''इन लोगों को किसी ने कभी अवसर नहीं दिया। अपनी दक्षता और कड़ी मेहनत के बल पर ही उन्हें ऊपर चढ़ना होता है। मैं गूँगों की आवाज हूँ। मेरे मुँह के सामने माइक्रोफोन रखे गये हैं और मुझे उनके लिए बोलने का मौका मिला है। मैं टी.वी. का इस्तेमाल धनियों को सावधान करने के लिए कर रहा हूँ कि दुनिया में दूसरे इन्सानों का भी अस्तित्व

माराडोना : जीवन की प्रमुख घटनाएँ

1960 : ब्यूनस आयर्स (अर्जेण्टीना) की झोंपड़पट्टी में जन्म।

1982 : ब्राजील के खिलाफ वर्ल्ड कप में टीम से निकाला गया, स्पेनी दानव बारसीलोना क्लब के लिए खेलने का अनुबन्ध किया।

1986 : मेक्सिको में हुए वर्ल्ड कप में हिस्सा लिया जिसमें अर्जेण्टीना की शानदार जीत हुई।

1989 : क्लोडिया बिलाफाने से शादी।

1990 : इटली में वर्ल्ड कप के लिए हुए फाइनल मुकाबले में अर्जेण्टीना जर्मनी के हाथों पराजित हुआ।

1991 : कोकीन का नशा करने के कारण 15 महीने के लिए टीम से बाहर कर दिया गया।

1994 : वर्ल्ड कप में खेला लेकिन नशीले पदार्थों के लिए जाँच में एफेड्रिन पाये जाने पर घर भेज दिया गया।

1997 : फुटबाल से सन्यास ले लिया।

2000 : फिदेल कास्त्रो ने उसे क्यूबा आमन्त्रित किया। फीफा ने उसे लोगों का पसंदीदा ''सहस्राब्दी का खिलाड़ी'' चुना।

2003 : पत्नी से तलाक।

2004 : दिल का दौरा पड़ा, मृत्यु के कगार पर।

2005 : पेट पर धातु की चादर लगना, टी.वी. शो की शुरुआत, नवम्बर में मार डेल प्लाटा में जार्ज बुश का विरोध।

2006 : इराक पर अमरीकी हमले की भर्त्सना।

है। मैं दुनिया को बदल तो नहीं सकता लेकिन सच बोलकर एक इन्सान तो बन सकता हूँ।

निजी समस्याएँ

अपनी बचपन की दोस्त और पत्नी क्लॉडिया से माराडोना का सम्बन्ध विच्छेद 2002–2004 के बीच उस समय हुआ जब वह कोकीन के नशे की समस्या से बुरी तरह ग्रस्त था और अप्रैल 2004 में नशे के चलते ही दिल का दौरा पड़ने के बाद मरने के कगार पर पहुँच गया था। लेकिन यही क्लॉडिया आज उसकी प्रबन्धक और एजेण्ट है। 2005 के शुरू में मोटापे पर काबू पाने के लिए उसके पेट पर धातु की चादर लगायी गयी थी लेकिन अगस्त के टी.वी. कार्यक्रम में वह अपेक्षाकृत दुबला नजर आया। इस कार्यक्रम का पहला भाग उसके प्रसिद्ध फुटबाल खिलाड़ी पेले के बारे में था जिसे वह पसंद नहीं करता था।

1987 में माराडोना ने आई.एम.जी. के साथ 10 करोड़ डालर के करार पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया क्योंकि प्रबन्धक समूह उसे दोहरी नागरिकता देना चाहता था– अर्जेण्टीना, और घबराइये मत, अमरीका की भी। उसने यह सुनिश्चित किया कि उसकी दोनों बेटियाँ अर्जेण्टीना में पैदा हों।

आत्मकथा *अलडियागो*में माराडोना लिखता है कि उसे कोकीन की लत अपने खेल जीवन में उस समय लगी थी जब वह खिलाड़ियों का शोषण करने वाले शक्तिशाली स्वार्थों से संघर्ष करते हुए अवसादग्रस्त हो गया था। यही वह समय था जब शक्तिशाली लोग जैसे– फुटबाल क्लबों के डॉयरेक्टर, इटली की लीग के प्रमुख (जो उस समय दुनिया की सबसे शक्तिशाली लीग थी) और अन्तरराष्ट्रीय फुटबाल एशोसिएशन परिसंघ (फीफा) के पदाधिकारी उसके दुश्मन बन गये थे। उसने इटली के क्लबों के आय-व्यय के खुलासे के लिए एक सफल संघर्ष का नेतृत्व किया ताकि खिलाड़ियों का वेतन बढ़ाया जा सके। वह इस खेल की शानदार अनिश्चितताओं पर फलने-फूलने की कोशिश में लगे शक्तिशाली व्यावसायियों और सट्टेबाजों के खिलाफ लड़ा। 1990 के विश्वकप सेमीफाइनल में उसकी टीम ने मेजबान इटली को हरा दिया और प्रायोजकों और विज्ञापन करने वालों के उस ख्वाब को गड़बड़ा दिया कि फाइनल मैच इटली और जर्मनी के बीच हो। और इसके दण्डस्वरूप, लगभग धार्मिक दण्ड की तरह, अर्जेण्टीना के खिलाफ एक गलत पेनाल्टी देकर फाइनल में उसे हरा दिया गया। माराडोना ने बताया कि ''खेल के बाद मैदान में ही मेरी रुलाई फूट पड़ी, इसलिए नहीं कि हम हारे थे बल्कि इस सरासर अन्याय के कारण।''

1994 के बाद

माराडोना गरीबी और दमन का वैश्विक चेहरा था। 1994 में नशीली दवा के परीक्षण में एफेड्रिन पाये जाने के कारण उसे विश्व कप में खेलने के अयोग्य घोषित कर दिया गया। बी.बी.सी. के मुताबिक इससे दुखी होकर बंग्लादेश के 100 से ज्यादा गरीब फुटबाल प्रेमियों ने आत्महत्या कर ली थी। माराडोना ने नेपोली के गरीब दक्षिण इटली के क्लब के साथ उत्तर के अमीरों द्वारा भेदभाव किये जाने पर भी प्रहार किया। उसने 1990 के इटालियन सेमीफाइनल के समय कहा था, ''इसमें कुछ भी गलत नहीं है अगर नेपोली के लोग अर्जेण्टीना और मेरा समर्थन करते हैं।'' जब मिलान की भीड़ इटली वर्ल्डकप में अर्जेण्टीना की पहली विरोधी टीम कैमरून को शाबासी दे रही थी तो माराडोना ने कहा था, ''मैं खुश हूँ कि डियागो माराडोना की वजह से वे नस्लवाद भूल गये हैं।''

2006 में प्रवेश करने पर माराडोना यह महसूस करता है कि जार्ज बुश की शक्ल फीफा और इटालियन लीग के सरगनाओं की जगह ले चुकी है। (आखिर आज का राष्ट्रपति बुश पहले एक बेसबाल की टीम का मालिक ही तो था।) पहले राउण्ड में माराडोना की जीत हुई है– बुश को बिना व्यापारिक समझौते के खाली हाथ मारडेल प्लाटा से लौटना पड़ा। उसके दूसरे जीवन की शुरुआत हो चुकी है। p

(द हिन्दू मैगजीन, 12 फरवरी 2006 से साभार।)

अर्जेण्टीना : मुद्राकोष के चंगुल से छूटने के प्रयास

2001 में अर्जेण्टीना में मुद्राकोष समर्थित ''वैश्वीकरण'' की नीतियाँ बुरी तरह ध्वस्त हो गयीं। बैंक दिवालिया हो गये और पूरी अर्थव्यवस्था चरमरा कर ढह गयी। अर्जेण्टीना अपने 100 अरब डालर के विदेशी कर्ज की किश्त भर पाने में असमर्थ था।

इस स्थिति को सँभालने में अक्षम सरकारों को एक के बाद एक जनाक्रोश की भेंट चढ़ना पड़ा। दो सप्ताह के भीतर 5 राष्ट्रपतियों को जनता ने कुर्सी से उतार फेंका।

देश के शासक वर्ग पर जनता का दबाव है कि वह अमरीकी साम्राज्यवाद और मुद्राकोष की नीतियों से परहेज करे। देश के वर्तमान राष्ट्रपति नेस्तर किर्शनर को यथासम्भव साम्राज्यवाद-विरोधी नीति के कारण 80% लोगों का समर्थन प्राप्त है। वह क्यूबा और वेनेजुएला की सरकारों के साथ परस्पर सहयोग की नीति अपनाते हुए अपने देश को मुद्राकोष के चंगुल से निकालने के लिए भरसक प्रयासरत है। हाल ही में अर्जेण्टीना ने मुद्राकोष का 9.8 अरब डालर का कर्ज उतार दिया है। किर्शनर का मानना है कि ऐसा करके उसने नवउपनिवेशवादी गुलामी के ''अपने घृणित अतीत के एक अच्छे खासे-हिस्से को दफ्न कर दिया है।''

कैसा भारत महान

भारत बदबूदार

भारत में 13 लाख लोग दूसरों का पाखाना अपने सर पर उठाकर फेंकते हैं। हिन्दू जाति व्यवस्था में सबसे निचली पायदान पर आने वाली दलित जातियों के ऊपर ब्राह्मणवादियों ने प्राचीनकाल में यह घृणित कार्य थोपा था। आजादी के 58 साल बाद भी इस पेशे में लगे लोगों की नारकीय जिन्दगी इस लोकतन्त्र के चेहरे पर बदबूदार धब्बा है। 1993 में सिर पर मैला ढुलाई के काम में किसी व्यक्ति को लगाने या उठाऊ पाखाना बनवाने के खिलाफ कानून बन जाने के बाद भी हमारा समाज इस अमानुषिक और नीचतापूर्ण पेशे से लोगों को मुक्त नहीं कर पाया। 2005 में सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान इस कानून के निकम्मेपन की ओर दिलाते हुए यह बताया गया था कि 1992 में 5.88 लाख लोग इस काम में लगाये गये थे जो 10 सालों में बढ़कर 7.87 लाख हो गये। यही वह दौर है जब इटली से टाइल्स मँगवाकर हमारे शासक अपने बाथरूमों की भव्यता में चार चाँद लगा रहे थे। अपने लिए स्वर्ग के निर्माण में वे इतने लिप्त थे कि नरक में धकेली जा रही जनता की उन्हें रत्तीभर परवाह नहीं थी।

आन्ध्र प्रदेश में मैला ढोने के काम में लगे दलित समुदाय के बीच सक्रिय संगठन सफाई कर्मचारी आन्दोलन के अनुसार आज देश भर में 13 लाख लोग इस पेशे में लगे हुए हैं। न केवल घरों में बल्कि नगरपालिकाओं, सेना और रेलवे में भी दलितों को इस गुलामी से भी बदतर काम में लगाया गया है। हमारे देश में यदि कानून की कीमत कागज के टुकड़े से अधिक होती तो आज लाखों लोग जेल के सींखचों के पीछे होते। लेकिन आम नागरिक ही नहीं सरकारी महकमों के आला अफसर भी इस अपराध में लिप्त हैं।

अपने अतीत का गुणगान करने वालों, टी.वी. कैमरा की आँख से 21वीं सदी की सुनहरी छवि देखने वालों और इसे महाशक्ति बनाने का दम्भ पालने वालों को अपनी नाक के नीचे इस घिनौने वंशागत पेशे की लगातार फैलती सड़ान्ध महसूस नहीं होती?

सूखाग्रस्त विदर्भः स्वर्ग यहाँ, नरक यहाँ

बजर गाँव, जिला–नागपुर देहात (महाराष्ट्र)।

एक तरफ 48 एकड़ में फैला वाटरपार्क (जलक्रीड़ा केन्द्र), पानी में 18 तरह के फिसलने वाले खेल, बर्फ में स्केटिंग, स्लाइडिंग, हर रोज डिस्को, भारत का पहला बर्फानी गुम्बद जिसमें बर्फ की चट्टान को सख्त रखने और उसका तापमान शून्य से 13 डिग्री नीचे बनाये रखने पर हर रोज 4,000 रुपये की बिजली खर्च होती है।

दूसरी ओर 3,000 की आबादी वाले इस गाँव में केवल एक ही सरकारी नलकूप है। गाँव में 4-5 दिन या कभी-कभी 10 दिन में एक बार पानी आता है।

पिछले 10 वर्षों से विदर्भ में एक भी पेयजल या सिंचाई परियोजना पूरी नहीं हुई है। लेकिन वहाँ वाटर पार्क, तालाब और बाग-बगीचे, योगध्यान-मनोरंजन केन्द्र की कोई कमी नहीं है। यह गाँव उसी विदर्भ में है जहाँ से पानी के अभाव में फसल चौपट होने और आये दिन किसानों की आत्महत्या की खबरें आती रही हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2005 में किसानों की वर्तमान स्थिति के बारे में चौंकाने वाले तथ्य दिये गये हैं। सर्वेक्षण के अनुसार भारत में किसान परिवारों का औसत मासिक खर्च वर्ष 2003 में केवल 503 रुपये था जो गरीबी रेखा के सरकारी पैमाने से मात्र 75 रुपये अधिक है। यह छोटी सी राशि भी सबसे खुशहाल और सबसे पिछड़े इलाकों तथा सबसे धनी और सबसे गरीब किसान परिवारों का औसत है जो गरीबी अमीरी के बीच की विराट खाई को छुपाता है। इसमें केरल (901 रुपये) और पंजाब (828 रुपये) जैसे अपेक्षतया समृद्ध इलाके तथा गरीबी की सीमा रेखा (428 रुपये) से भी कम औसत खर्च वाले बिहार (404 रुपये) और उड़ीसा (342 रुपये) जैसे उपेक्षित इलाके, सभी एक साथ शामिल किये गये हैं। मध्य प्रदेश, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, बिहार और उड़ीसा के 20% से भी अधिक लोग 225 रुपये प्रतिमाह पर गुजारा करते हैं जो गरीबी के सरकारी पैमाने से लगभग आधा है। 7 रुपये प्रतिदिन पर लोग कैसे परिवार चला रहे हैं, जरा सोचिये!

यह कैसा विकास?

'एच.ए.क्यू.: सेण्टर फॉर चाइल्ड राइट्स' की हाल ही में जारी रिपोर्ट ''स्टेटस ऑफ चिल्ड्रन इन इण्डिया इंकार्पोरेशन'' के मुताबिक भारत में विकास दर ऊँची है और शेयर बाजार छलाँग लगा रहा है जबकि बच्चे भूख और कुपोषण से मर रहे हैं।

दुनिया का हर तीसरा कुपोषित बच्चा भारत में है। हर साल 25 लाख बच्चे पाँच वर्ष की आयु पूरी करने से पहले ही मर जाते हैं। देश में पैदा होने वाले 100 में से 87 बच्चों के 5 साल की उम्र तक मरने की सम्भावना रहती है।

दुनिया में सबसे अधिक यौन शोषण के शिकार बच्चे भारत में ही हैं जहाँ हर 10 में से एक बच्चा हर समय यौन उत्पीड़न झेल रहा होता है। रिपोर्ट में लगाये गये अनुमान के मुताबिक हमारे देश में मजदूरी, शादी, मनोरंजन और वेश्यावृत्ति के लिए हर साल 6 से 7 लाख बच्चों की खरीद-बिक्री होती है।

(*दहिन्दू*, 26 जनवरी 2005)

इण्टरनेशनल फकीर

लोगों से उदारतापूर्वक दान देने की अपील करता संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तरराष्ट्रीय बाल शिक्षा फण्ड (यूनिसेफ) का एक विज्ञापन कहता है कि भारत का हर दसवाँ बच्चा 5 साल की उम्र से पहले ही मर जाता है। 1,000 रुपये का चन्दा देकर एक बच्चे का पूरी तरह टीकाकरण और 5,000 रुपये के चन्दे से 100 बच्चों को जानलेवा कुपोषण से बचाया जा सकता है। क्या देश इतना कंगाल हो गया कि इन 25 लाख मासूमों की जान बचाने के लिए हमें विदेशी संस्थाओं की दान-दया पर निर्भर होना पड़े?

मात्र 37.5 करोड़ रुपये के लिए 'इण्टरनेशनल फकीर' अपनी झोली फैलाये घूम रहे हैं जबकि सरकारी बैंकों ने पिछले 3 वर्षों के दौरान पूँजीपतियों पर बकाया 77 हजार करोड़ रुपये बट्टे खाते में डाल दिये। क्या सरकार के पास भीख माँगने से बेहतर कोई उपाय नहीं?

क्लीनिकल परीक्षण: दवा कम्पनियों की जानलेवा साजिश

—बुद्धेश मणि

''भारत में हमारे लिए कई फायदेमन्द चीजें हैं, जैसे विविध प्रकार के मानव जीन का भण्डार, तरह-तरह की बीमारियों से पीड़ित रोगी, इलाज के प्रति लोगों की अज्ञानता और बहुत ही कम खर्च में परीक्षण।'' (क्लीनिकल परीक्षण के धन्धे में लगी एक कम्पनी के मैनेजर का बयान, *दहिन्दू*, 1 दिसम्बर 2005।)

भारत में ''महामारी विज्ञान सम्बन्धी परिवर्तन'' हो रहे हैं। मतलब यह कि अब यह गरीबी से जुड़ी बीमारियों वाले देश से औद्योगीकृत देशों में पायी जाने वाली डायबिटीज, हृदय रोग, आंकोलॉजी जैसी बीमारियों वाले देश की ओर अग्रसर है। यह अन्तरराष्ट्रीय दवा कम्पनियों और शोध समूहों द्वारा प्रयोग करने के लिए उपयोगी है क्योंकि इससे धनी देशों के हितों की पूर्ति होती है। (बेबे लोफ, विभागाध्यक्ष, मानवाधिकार एवं जैव-नैतिकता, मोनाश विश्वविद्यालय, *फ्रण्टलाइन,* 30 दिसम्बर 2005।)

सही है कि हमारे देश में लाइलाज बीमारियों से ग्रस्त और इलाज से वंचित लोगों की कमी नहीं, लेकिन जनता की यह दयनीय स्थिति किसी के लिए फायदेमन्द कैसे हो सकती है? जिस तरह किसी जानवर की लाश पर गिद्ध और सियार टूट पड़ते हैं, वैसे ही आज विदेशी दवा कम्पनियाँ और उनकी सेवा में लगी देशी क्लीनिकल परीक्षण कम्पनियाँ हमारे देश की गरीबी और बीमारी को मुनाफे में बदलने के लिए जीभ लपलपाती घूम रही हैं।

क्लीनिकल परीक्षण किसी नयी दवा का लम्बे समय तक रोगियों पर प्रयोग करने और उस दवा के प्रभाव से होने वाले दुष्प्रभावों के अध्ययन की विधि है। जाहिर है कि यह एक खतरनाक काम है, इसलिए इसके लिए रोगियों को पूरी बात बताकर पहले ही उनकी सहमति लेना तथा उस दवा के चलते होने वाले किसी भी बुरे प्रभाव का बेहतर से बेहतर इलाज करवाने की गारण्टी करना और मुआवजा देना जरूरी होता है। लेकिन जनता की अज्ञानता, गरीबी और लाचारी को ''फायदेमन्द'' बताने वालों से क्या यह उम्मीद की जा सकती है कि वे इन नैतिक जिम्मेदारियों को निभायेंगे? और जिन ''भोले-भाले'' रोगियों को वे गिनी पिग की तरह इस्तेमाल करेंगे, क्या वे समझ पायेंगे कि उनके ऊपर कैसे-कैसे जानलेवा तजुरबे किये जा रहे हैं? साम्राज्यवादी देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कम खर्च और भारी मुनाफे के लिए भारत जैसे देशों में आ रही हैं, जहाँ गरीबों की जान की कोई कीमत नहीं। चिकित्सा के पेशे से जुड़े संवेदनशील लोगों तथा जागरूक नागरिकों के लिए क्लीनिकल परीक्षण के धन्धे का फैलना एक गम्भीर और विचारणीय मुद्दा है। कुछ संगठनों ने इसका विरोध भी शुरू कर दिया है।

दिल्ली के जाने माने अस्पताल में कार्यरत एक बाल रोग विशेषज्ञ ने पिछले साल पत्रकारों को बताया था कि ठेके पर शोधकार्य करने वाली मुम्बई की कम्पनी सिरो क्लीन फार्मा लि. ने नवजात बच्चों पर हेपेटाइटिस की नयी दवा आजमाने के लिए उससे सम्पर्क किया था। यह दवा कनाडा की कम्पनी केनजिन कॉरपोरेशन ने बनायी थी। इसके लिए कम्पनी ने उस डॉक्टर को प्रति बच्चा 38,000 रुपये देने का प्रस्ताव दिया था। डॉक्टर ने उस दवा के परीक्षण से जुड़ी ढेर सारी गड़बड़ियों को देखते हुए इस अनैतिक काम में हाथ नहीं डाला। लेकिन कितने डॉक्टर हैं जो ऐसे प्रलोभन से बच जायें? उसी दवा का परीक्षण अब हैदराबाद के एक सरकारी अस्पताल में जारी है।

क्लीनिकल परीक्षण का एक और बर्बरतम उदाहरण केरल के रीजनल कैंसर सेण्टर और हॉप्किंस विश्वविद्यालय द्वारा किया गया शोध है जिस पर 5 साल पहले काफी बवाल मचा था।

शोधकर्ताओं ने केरल और तमिलनाडु के कई रोगियों की जीभ पर उनकी सहमति लिए बगैर ही कैंसर की एक नयी दवा 'एम 4 एन' का टीका लगाया और बाद में उनकी जीभ काटकर हॉप्किंस विश्वविद्यालय को निर्यात कर दी। क्रूरता की हद तो यह थी कि उस दवा को पहले जानवरों पर आजमाये बिना ही, सीधे भारतीय रोगियों के ऊपर परीक्षण किया गया। आज ऐसे 25 रोगी अपनी जीभ और बोलने की क्षमता गँवा चुके हैं। ढेर सारे अन्य रोगियों का क्या हुआ? इसका आज कोई अता-पता नहीं, क्योंकि शोधकर्ताओं ने बाद में उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली।

अभी हाल ही में जब शोधकर्ताओं को उनके इस आपराधिक और अनैतिक कुकर्म के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार मिला तो केरल के डॉक्टरों ने इस शोध की विश्वसनीयता और उनके घृणित तौर-तरीकों पर सवाल उठाते हुए उन्हें चुनौती दी।

पूँजीवाद का पूरा इतिहास ही मुनाफे की हवस में जनसाधारण के प्रति क्रूरतापूर्ण और जघन्य अपराधों से भरा पड़ा है। क्लीनिकल परीक्षण से सम्बन्धित अनैतिक कार्रवाइयों पर पहली बार तब सवाल उठा था जब नाजी जर्मनी में भोले-भाले लोगों के ऊपर जबरन चिकित्सकीय प्रयोग किये जाने के मामले प्रकाश में आये। तब हिटलर के यातनाशिविरों में निरपराध यहूदी कैदियों और यातनाओं से जर्जर रोगियों के ऊपर अमानुषिक और जानलेवा प्रयोग किये गये थे।

एक और घृणास्पद उदाहरण अमरीका में 1932 से 1972 के बीच सामने आया था जिसमें अलाबामा के गरीब बटाईदार किसानों की सहमति लिए बिना उन पर सिफलिस की नयी दवा का परीक्षण शुरू किया गया। इन 40 वर्षों के बीच सिफलिस की अचूक दवा—पेनिसिलीन का पता चल गया, फिर भी गरीब लोगों का मुफ्त

इलाज नहीं किया गया, क्योंकि इससे उन पर किया जा रहा उस दवा का परीक्षण बाधित होता। यहाँ तक कि जब रोगी मर जाते तो उनके परिवारवालों को उनकी लाश प्रयोगशाला में पहुँचानी पड़ती थी, ताकि उनके मृत शरीर की चीर-फाड़ करके दवा के असर का अध्ययन किया जा सके। इस परीक्षण के दौरान कितने ही रोगी मर गये थे और रोगियों के परिवार में भी सिफलिस फैल चुकी थी।

क्लीनिकल परीक्षण की इन अनैतिक और अमानुषिक घटनाओं को नियन्त्रित करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर कई दिशा-निर्देश तैयार किये गये। लेकिन फिर भी बड़े पैमाने पर अनैतिक कार्रवाइयों की रिपोर्टें आती रहती हैं, खास करके गरीब देशों से जहाँ की अभावग्रस्त जनता दवा कम्पनियों के लिए आसान शिकार है।

भारत की जनता के ऊपर ऐसे कितने घातक प्रयोग किये जा रहे हैं इसका अन्दाजा उन चन्द घटनाओं से लगाया जा सकता है जिनका किसी न किसी कारण से पर्दाफाश हो गया। अमरीका के प्राइवेट शोधकर्ताओं ने बंगाल के स्थानीय डॉक्टरों की मदद से औरतों के बन्ध्याकरण के एक बर्बर तरीके का गैरकानूनी रूप से परीक्षण किया। मलेरिया में दी जाने वाली क्विनाक्रीन दवा को महिलाओं के गर्भाशय में डालकर भारत में लगभग 30,000 महिलाओं के ऊपर बर्बरतापूर्ण बंध्याकरण का प्रयोग किया गया। जब महिला और स्वास्थ्य संगठनों द्वारा इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय में ले जाया गया तब जाकर उस प्रयोग और दवा पर रोक लगी। लेकिन आज भी कई डॉक्टर चोरी-छुपे इस क्रूरतापूर्ण विधि का प्रयोग गर्भनिरोधक के रूप में कर रहे हैं।

एक अन्य मामले में खुद भारतीय चिकित्सा शोध परिषद (आई.सी.एम.आर.) ने एक क्लीनिकल परीक्षण को आयोजित किया जिसके तहत 1976 से 1988 के बीच दिल्ली की 1,158 महिला रोगियों पर प्रयोग किये गये। इसका उद्देश्य यह पता करना था कि गर्भाशय के मुख पर कैंसर से पहले होने वाले घाव के जो लक्षण दिखायी देते हैं, उसका यदि इलाज न किया जाय तो उनमें से कितनी महिलाओं को कैंसर हो सकता है। इस शोध के दौरान 150 से अधिक महिलाएँ कैंसर की चपेट में आ गयीं। अगर समय से इलाज होता तो उनकी जान खतरे में नहीं पड़ती।

1997 में जब इस मामले पर सवाल खड़ा किया गया तब आई.सी.एम.आर. ने 2,000 में क्लीनिकल परीक्षण के बारे में एक दिशा-निर्देश जारी किया। यह दिशा-निर्देश दन्त-नख विहीन है, जिसमें दवा कम्पनियों के लिए बचाव के अनेक रास्ते छोड़े गये हैं और उनके किसी भी कुकृत्य के लिए कानूनी कार्रवाई या सजा का कोई प्रावधान नहीं है।

विभिन्न संगठनों के विरोध के बावजूद क्लीनिकल परीक्षण के क्षेत्र में विदेशी दवा कम्पनियों और उनके भारतीय सहयोगी गणशत्रुओं का इस धन्धे में पाँव पसारना जारी है। इस क्षेत्र में करोड़ों डालर के सम्भावित पूँजी निवेश के लालच में सरकार ने दवा कम्पनियों से साँठ-गाँठ करके यहाँ की जनता को गिनी पिग और पूरे देश को प्रयोगशाला बना देने का फैसला कर लिया है। उसने ड्रग एण्ड कॉस्मेटिक एक्ट-1940 की अनुसूची-4 को बदल दिया है जिसमें यह प्रावधान था कि किसी दवा के जिस चरण का प्रयोग पहले बाहर के देशों में हो चुका हो या चल रहा हो, भारत में केवल उसी चरण के परीक्षण की अनुमति दी जाए। अब विदेशी कम्पनियों की राह में ऐसी कोई बाधा नहीं रहेगी। कम्पनियों ने इस कानूनी सहूलियत का लाभ उठाना शुरू भी कर दिया है।

जिस देश में ऐसे-ऐसे डॉक्टर हैं जो इलाज करने की जगह मरीज के दोनों गुर्दे चुरा लेते हों, दवा कम्पनियों से कमीशन खाकर गैरजरूरी महँगी दवाएँ लिखते हों और महँगी जाँच करवाते हों, थोड़े से पैसे के लालच में स्त्रीभ्रूण की गैरकानूनी जाँच और गर्भपात करते हों, शीर्षस्थ पेशेवर लोगों में ऐसे रीढ़विहीन लोगों की भरमार है जो विदेशी पूँजीपतियों से मिलने वाले चाँदी के चन्द टुकड़ों के लिए किसी भी हद तक गिरने के लिए तैयार हों, जहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित, अभावग्रस्त और असहाय हो, जहाँ के शासक वर्ग अपने देश की मेहनतकश जनता से नफरत और उसकी उपेक्षा करने के मामले में नाजियों और गोरे उपनिवेशवादियों से भी नौ हाथ आगे हों, वहाँ क्लीनिकल परीक्षण के धन्धे को खुली छूट देने का कितना विनाशकारी परिणाम हो सकता है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

उदारीकरण और वैश्वीकरण का खड्ग-खप्पड़ लिए साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपति और उनके इस पैशाचिक हमले में सहभागी हमारे देश के शासक इसे नरक में तब्दील करने पर आमादा हैं। वे जानलेवा एसबेस्टस और जहरीले रसायन वाला युद्धपोत, जिसे अन्तरराष्ट्रीय प्रतिबन्धों के चलते किसी देश की चौहद्दी से गुजरने के लिए भी इजाजत लेनी पड़ती है, उसे गुजरात के बन्दरगाह पर खरीदकर मँगवाया जाता है। खुद उनके देशों में कुत्ते-बिल्लियों पर भी नयी दवा के परीक्षण की कठोर शर्तें हैं लेकिन हमारे देश में इन्सानों को भी कुत्ते-बिल्ली की जगह इस्तेमाल करने की उन्हें खुली छूट है। कम से कम पैसे पर काम करवाना हो तो भारत के मजदूर हैं। यदि वे संगठित होकर अपनी जायज माँगों के लिए आन्दोलन करें तो उससे निपटने के लिए भारत का पुलिस-प्रशासन मुस्तैद है। दुनिया भर में वर्षों पहले प्रतिबन्धित दवाओं को भी वे हमारे देश में धड़ल्ले से बनाने और बेचने के लिए आजाद हैं। डू-पोण्ट, डोव केमिकल और यूनियन कारबाइड जैसी दुर्दांत बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जिन्हें हवा-पानी में जहर घोलने के अपराध में कई देशों से निकाल बाहर किया गया और जो हमारे देश में भोपाल गैस काण्ड जैसे जघन्य नरसंहार कर चुकी हैं, उनका हमारे यहाँ इसलिए स्वागत किया जाता है कि इससे पूँजी-निवेश बढ़ेगा।

'विकास' के नाम पर 'विनाश' का यह खूनी खेल कब तक जारी रहेगा? p

किसानों की आत्महत्याएँ : खेती के संकट से जुड़े कुछ अहम सवाल

—दिगम्बर

पिछले वर्ष कपूरथला (पंजाब) की नदाला मण्डी में धान बेचने आये 50 वर्षीय गुरुदेव सिंह ने मण्डी परिसर में ही आत्महत्या कर ली क्योंकि एक हफ्ते तक इन्तजार करने के बाद भी अनाज नहीं बिका। उसी समय पंजाब के दो अन्य किसानों ने भी इसी वजह से आत्महत्या की थी। (*दहिन्दू*, 25 अक्टूबर 2005।)

महाराष्ट्र के वर्धा जिले में स्थित डोरली गाँव के कर्ज में डूबे किसानों ने एक साइन बोर्ड लगाया है जिस पर लिखा है– ''यह पूरा गाँव बिकाऊ है।'' पिछले एक वर्ष में वर्धा जिले के 300 किसानों ने आत्महत्या की है। किसानों का कहना है कि आत्महत्या करने से अच्छा है कि हम अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर कर्ज चुका दें और गाँव छोड़कर कहीं और चले जायें। इससे पहले पंजाब के भटिण्डा जिले के हरकिशनपुरा और चार अन्य गाँवों के किसानों ने भी गाँव के बाहर ऐसा ही बोर्ड लगा दिया था। (*दहिन्दू*, 29 दिसम्बर 2005।)

महाराष्ट्र के चिंगापुर, नाँदगाँव, खण्डेश्वर और पुसत तालुका (यवतमाल) के किसानों ने बैंकों का कर्ज चुकाने के लिए सामूहिक रूप से अपने पूरे परिवार की किडनी बेचने के लिए हाट लगाने और बाद में आत्महत्या करने का फैसला किया है। उन्होंने इस हाट के उद्घाटन के लिए राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री को निमन्त्रण भेजा है। चिंगापुर के पड़ोसी गाँव वालों ने बोर्ड लगाया है, ''यह गाँव गिरवी रख लो। हमें सामूहिक आत्महत्या की अनुमति दो।'' (*सहारासमय*, 11 फरवरी 2006।)

पिछले 10 वर्षों में हमारे देश के 25 हजार से भी अधिक किसानों ने आत्महत्या की है। कृषि राज्यमन्त्री ने हाल ही में लोकसभा को बताया कि केवल दो वर्षों (2002-2004) के भीतर देश के सात राज्यों के 5,862 किसानों ने आत्महत्या की है। आत्महत्या की त्रासद घटनाएँ सबसे अधिक आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में हुईं, लेकिन देश के कुछ अन्य राज्यों से भी किसानों द्वारा आत्महत्या की खबरे आती रही हैं।

हमारे देश के किसान युगों-युगों से बाढ़, सूखा, अकाल जैसी प्राकृतिक आपदाओं और शासक वर्गों के अमानुषिक शोषण-उत्पीड़न को सहते आ रहे हैं। ऐसे भी वक्त गुजरे जब अकाल और महामारी के चलते लाखों किसान काल के गाल में समा गये, लेकिन जीवन और संघर्ष के प्रति उनकी अटूट आस्था पर कोई आँच नहीं आयी। फिर क्या वजह है कि आज आधुनिक खेती के जरिये अधिक फसल उगाने के बावजूद वे आत्महत्या करने के लिए विवश हैं।

क्षोभ की बात तो यह है कि हमारे देश के शासकों ने काफी समय तक इस सच्चाई को स्वीकार ही नहीं किया कि इन आत्महत्याओं का कृषि संकट या सरकारी नीतियों से कोई भी लेना-देना है। वे कानूनी और तकनीकी दाँव-पेंच करके इनकी वास्तविक संख्या को छुपाने और इन्हें सामान्य खुदकुशी साबित करने के प्रयास में लगे रहे। कुछ नेताओं ने तो यहाँ तक कहा कि किसान सरकारी मुआवजे के लालच में आत्महत्या कर रहे हैं।

आत्महत्याओं का यह अनवरत सिलसिला किसान समुदाय की दुर्दशा की चरम अभिव्यक्ति है। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि भारतीय कृषि क्षेत्र एक गम्भीर और चौतरफा संकट का शिकार है। इसके स्वरूप, कारण और समाधान को लेकर भले ही मतभेद हों, लेकिन इस संकट की मौजूदगी से आज कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।

लागत के चढ़ते दाम और कर्ज का कसता शिकंजा

खेती के वर्तमान संकट ने छोटे और सीमान्त किसानों को सबसे अधिक प्रभावित किया। आत्महत्या की दर्दनाक घटनाएँ भी ऐसे ही परिवारों में सबसे अधिक हुईं, लेकिन मध्यम और खुशहाल मध्यम किसान भी इस त्रासदी के शिकार हुए हैं।

जिन इलाकों में नकदी फसल अधिक उगायी जाती है वहाँ खेती का संकट काफी तीखे रूप में सामने आया। बिहार, बंगाल, उड़ीसा और छत्तीसगढ़ जैसे अपेक्षतया पिछड़ी खेती वाले इलाकों के किसान कहीं ज्यादा बदहाल और अमानवीय परिस्थितियों में जीवन यापन कर रहे हैं। वहाँ की समस्याएँ कहीं अधिक विकराल हैं लेकिन उनकी प्रकृति भिन्न है। नगदी फसल उगाने वाले किसानों की तरह लाखों रुपये कर्ज लेकर खेती में लगा देने, घाटा होने के चलते उसे न चुका पाने और पूरी तरह बर्बाद हो जाने की शर्मिंदगी और सदमे से उनका सामना नहीं होता।

हमारे देश में छोटी जोत वाले 80% किसानों के पास जमीन तो कम है ही, खेती के जरूरी संसाधनों और पूँजी का भी अभाव है जिसके बिना आज खेती करना सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में खाद, पानी, बीज, बिजली और खेती के औजारों के लिए कर्ज लेने के सिवा उनके सामने और कोई चारा नहीं।

सरकारी तन्त्र पहले इस बात से भी इन्कार करता रहा कि किसानों की आत्महत्या का कारण कर्ज के जाल में फँसे होना है। लेकिन इस सम्बन्ध में जितनी भी जाँच रिपोर्टें आयीं उन सबमें अन्य कारणों के अलावा इसे एक प्रमुख कारण बताया गया है।

किसानों द्वारा लिये गये कुल कर्जों में बैंकों और सहकारी संस्थाओं का हिस्सा केवल 8 से 10% है। बाकी कर्जों के लिए वे सूदखोरों पर निर्भर हैं। कारण यह है कि 1990 के बाद नयी

आर्थिक नीतियों के तहत बैंकों द्वारा कृषि क्षेत्र को दिये जा रहे कर्ज की राशि दिनो-दिन कम की जा रही है। ग्रामीण बैंक भी गाँव से जमा होने वाली कुल राशि का केवल 15% ही किसानों को कर्ज के रूप में देते हैं और वह भी पहले की तुलना में अधिक ब्याज दरों पर। जिन किसानों के पास अपने नाम से जमीन नहीं है, उन्हें गारण्टी के अभाव में बैंकों से कर्ज नहीं मिलता। ऐसे में अधिकाधिक किसान साहूकारों, आढ़तियों या खाद-बीज के व्यापारियों से कठोर शर्तों और भारी ब्याज पर कर्ज या उधार लेने को मजबूर हैं।

पिछले वर्ष बोआई के मौसम में विदर्भ के 100 से भी अधिक किसानों ने आत्महत्या की थी क्योंकि उस समय कृषि लागत की खरीद के लिए किसानों को तत्काल पैसे की जरूरत थी लेकिन पुराना कर्ज न चुका पाने के कारण साहूकारों ने उन्हें नये कर्ज नहीं दिये। ऐसी हालत में खेत की बोआई न हो पाने और जिन्दगी का अन्तिम सहारा भी छिन जाने के बाद वे इतने हताश हो गये कि उन्हें और कोई रास्ता नहीं सूझा।

कर्ज का मकड़जाल

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2005 के अनुसार देश के लगभग आधे किसान कर्ज के जाल में फँसे हुए हैं। नगदी फसल उगाने वाले इलाकों में कर्जदार किसानों का अनुपात सबसे ज्यादा है। आन्ध्र प्रदेश में 82%, तमिलनाडु में 74.5%, पंजाब में 65.4% और महाराष्ट्र में 58% किसान कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। कर्जदार किसानों की कुल संख्या के मामले में उत्तर प्रदेश सबसे ऊपर है, जहाँ 69 लाख परिवार कर्जदार हैं।

कटाई के मौसम में एक बार फिर आत्महत्याओं का सिलसिला शुरू हुआ क्योंकि किसानों को फसल के उचित दाम नहीं मिले। नवम्बर-दिसम्बर 2005 में वहाँ के 100 से अधिक किसानों द्वारा आत्महत्या की खबर आयी। इस बार भी उनकी चरम हताशा का कारण कर्ज न चुकाने, नया कर्ज न मिलने और खेती की लागत नहीं जुटा पाने को लेकर ही था। किसानों का इस दुश्चक्र से निकल पाना आसान नहीं।

सरकारों की चरम उपेक्षा, लागतों की चढ़ती कीमतें और सिकुड़ती आमदनी

वर्तमान प्रधानमन्त्री और कृषिमन्त्री ने बार-बार इस बात को दोहराया है कि पिछले 10-15 सालों से खेती पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इस उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण भारी संख्या में किसान कर्ज के जाल में फँसते चले गये। पिछले 15 सालों के दौरान सरकार की आर्थिक नीतियों में बदलाव के चलते कृषि लागत और समर्थन मूल्य के मद में दी जाने वाली सब्सिडी एक-एक करके वापस ले ली गयी। नतीजा यह कि किसानों का लागत खर्च तेजी से बढ़ता गया। 1992 के बाद से खाद की लागत में 4 गुने की वृद्धि हुई क्योंकि यूरिया, डी.ए.पी. और पोटाश, तीनों तरह के खादों की कीमतें तेजी से बढ़ी हैं।

सिंचाई पर होने वाला खर्च भी काफी तेजी से बढ़ा है क्योंकि सरकार ने नलकूपों और नहरों पर पैसा खर्च करना लगभग बन्द कर दिया है और किसानों को सिंचाई के निजी साधनों पर निर्भर होना पड़ा है। पिछले 10 वर्षों में आन्ध्र प्रदेश के किसानों ने कर्ज लेकर लगभग 9 लाख नये पम्पिंग सेट लगाये। इस मद में किसानों ने करोड़ों रुपये खर्च किये जबकि इससे कम खर्च में वहाँ सामूहिक सिंचाई की व्यवस्था हो सकती थी। लगभग यही हाल देश के अन्य राज्यों का भी है। निजी नलकूपों में इस बेतहाशा वृद्धि के चलते पानी का स्तर नीचे चला गया और देश के कुछ इलाकों में तो भूगर्भ जल समाप्तप्राय हो गया। खेती की तो बात ही क्या वहाँ पीने का पानी भी दुर्लभ हो गया है।

सिंचाई के लिए निजी ट्यूबवैल पर निर्भर होने और कृषि यन्त्रों का प्रचलन बढ़ने के साथ ही किसानों की ऊर्जा खपत में भी वृद्धि हुई। पिछले 10-15 वर्षों में सरकार की नयी नीतियों के चलते बिजली और डीजल की कीमतें भी काफी तेजी से बढ़ी हैं।

इस बीच बीज की कीमतों में भी औसतन 4 गुने की वृद्धि हुई। खासतौर पर विदेशी बीज कम्पनियों ने इस दौरान घटिया और महँगे बीज बेचकर किसानों को बेतहाशा लूटा। महाराष्ट्र के विदर्भ इलाके में विदेशी कम्पनियों ने यह दावा किया था कि बी.टी. कॉटन बीज से उपज अधिक होगी और कीड़े भी नहीं लगेंगे। किसानों ने उन्नत किस्म के अन्य बीजों की तुलना में 4 गुना अधिक कीमत पर बहुराष्ट्रीय कम्पनी मोनसेण्टो के बीज खरीदे लेकिन कम्पनी के सारे दावे खोखले साबित हुए। भारी मात्रा में बीज उगे ही नहीं और जो उगे उन पर भी फसल अच्छी नहीं आयी। किसानों को खाद और कीटनाशाक का प्रयोग पहले से अधिक करना पड़ा। मोनसेण्टो कम्पनी की लूट और धोखाधड़ी का जाल अब कई अन्य राज्यों में भी फैल गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसानों की मेहनत पर सूदखोर, बड़े व्यापारी, खाद, बीज, कीटनाशक व मशीनरी कम्पनियाँ, मिल मालिक और थोक विक्रेता मालामाल हो रहे हैं, जबकि किसानों की आमदनी में दिनो-दिन गिरावट हो रही है।

विश्वबाजार के दानवों के आगे बेबस किसान

कैसी विडम्बना है कि आज किसानों की मुसीबत का कारण फसल चौपट होना नहीं, बल्कि अच्छी पैदावार ही अक्सर उनकी तबाही का कारण बन जाती है।

आज लगभग हर छोटा-बड़ा किसान बाजार के लिए फसल उगाता है, यानी माल और बाजार अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ है। बाजार में माल बिकेगा या नहीं और यदि बिक भी गया तो उसकी अच्छी कीमत मिलेगी या नहीं, इसकी आज कोई गारण्टी नहीं है। जो किसान मुख्यत: बाजार के लिए फसल नहीं पैदा करते, वे भी अपनी लागत खरीदने के लिए बाजार पर निर्भर हैं।

1990 से पहले समर्थन मूल्य और सरकारी खरीद की व्यवस्था और विदेशों से आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध के चलते बाजार भाव के उतार-चढ़ाव पर काफी हद तक नियन्त्रण था। लेकिन अब

नयी आर्थिक नीतियों ने किसानों को बाजार की निर्मम और दानवी शक्तियों के आगे असहाय छोड़ दिया है। अकेले-अकेले अपने स्थानीय बाजार के आढ़तियों और थोक विक्रेताओं से मुकाबला करने में असमर्थ किसान भला विश्वबाजार में जबड़े खोलकर घात लगाये बैठी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मगरमच्छों से कैसे बच सकते हैं।

सरकार ने वर्ष 2000 के बाद 1,400 से भी अधिक सामानों के आयात पर प्रतिबन्ध हटाकर भारतीय बाजारों को विदेशी सामानों से पाटने का रास्ता साफ कर दिया। व्यापारी भविष्य में भारी मात्रा में विदेशों से कृषि उत्पाद मँगाने लगेंगे। विश्वबाजार में मन्दी और साम्राज्यवादी देशों में किसानों को दी जा रही भारी सब्सिडी के चलते विदेशी सामानों की कीमतें कम होना लाजिमी हैं। जब बाजार सस्ते विदेशी मालों से पट जायेगा तो देशी कृषि उत्पादों के दामों में भी गिरावट आना लाजिमी है।

दूसरी ओर सरकार ने व्यापारियों को यह छूट दे दी कि वे जिस भी कीमत पर जितना भी चाहे कृषि उत्पाद विदेशों में बेच सकते हैं। इस काम के लिए सरकार उन्हें सब्सिडी और अन्य सुविधाएँ भी दे

कटाई के मौसम में विदेशों से गेहूँ मँगाने का सरकारी फैसला

2 फरवरी 2006 को केन्द्र सरकार ने विदेशों से 5 लाख टन गेहूँ मँगवाने का फैसला किया। इसके पीछे उसने यह बहाना गढ़ा कि जनवरी में गेहूँ की कीमत बढ़ गयी थी जिसे नियंत्रित करने के लिए सरकार को यह फैसला लेना पड़ा। इस आयात के लिए व्यापारियों को भी कोई टैक्स नहीं देना पड़ेगा।

विदेश से गेहूँ आने में 2 महीने का समय लगेगा। यानी ठीक उसी समय विदेशी गेहूँ आना शुरू होगा जब हमारे यहाँ रबी की फसल की कटाई और उत्तरी राज्यों की मण्डियों में गेहूँ की खरीद-बिक्री अपने चरम पर होगी। कटाई के मौसम में गेहूँ का भाव हर साल ही गिरता है। विदेशी गेहूँ की आवक से बाजार में जो मन्दी आयेगी उसका सीधा असर किसानों पर पड़ेगा, क्योंकि किसी भी कीमत पर तत्काल गेहूँ बेचना उनकी मजबूरी होगी।

यदि सरकार को जनवरी में कीमतों पर नियन्त्रण रखना होता तो वह सरकारी गोदामों में पड़े 47 लाख टन गेहूँ में से 5 लाख टन के बदले 10 लाख टन गेहूँ खुले बाजार में बेचकर ऐसा करती। विदेशों से गेहूँ मँगवाने का सीधा लाभ व्यापारियों को होगा, जनवरी में मँहगा बेचकर जनता को तो लूटा ही, अब अप्रैल में सस्ता खरीदकर किसानों को लूटेंगे।

रही है। लेकिन विश्वबाजार में गरीब देशों से निर्यातकों की भरमार और धनी देशों में ग्राहकों की संख्या सीमित होने के चलते वहाँ इन चीजों की कीमतों में गिरावट आ रही है। फिर भी विदेशी मुद्रा के लोभ में कम से कम कीमत पर निर्यात जारी है, जिसका कुछ न कुछ प्रभाव अपने देश के बाजारों पर भी देखने को मिलता है। अभी देश के कृषि बाजार पर विश्वबाजार का असर काफी कम है क्योंकि कुल व्यापार में आयात-निर्यात का हिस्सा अधिक नहीं है। फिर भी कपास, सरसों, प्याज की कीमतों पर इसके असर को देखते हुए हम आने वाले दिनों में खेती पर विश्वबाजार की काली छाया का अनुमान लगा सकते हैं।

ऐसा भी नहीं कि निर्यात बढ़ने से किसानों को सही भाव मिल रहा हो। 2003-04 में प्याज का निर्यात 8.4 लाख टन था जो 2004-05 में बढ़कर 10 लाख टन हो गया। लेकिन फिर भी स्थानीय बाजार में प्याज का भाव फसल आते ही तेजी से गिरा और दिसम्बर महीने में महाराष्ट्र में प्रति क्विण्टल 460 रुपये से घटकर 275 रुपये और गुजरात में 450 रुपये से घटकर 175 रुपये तक आ गया। स्टोरेज की सुविधा न होने के कारण प्याज को रख पाने की भी समस्या खड़ी हो गयी।

आज की स्थिति में अपने परिश्रम के बल पर किसान जितना भी अधिक पैदावार बढ़ायें, विविधिकरण अपनाकर चाहे कोई भी

घटती आमदनी

संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास संगठन (UNCTAD) की रिपोर्ट के मुताबिक 1996-97 से 2002-03 के बीच बंगाल के धान उगाने वाले किसानों, उत्तर प्रदेश के गन्ना किसानों और महाराष्ट्र के गन्ना किसानों की आय में क्रमशः 28%, 32% और 40% की कमी आयी है। इसी अवधि में 1980 की कीमत पर फसलों के भाव भी 60-70% गिरे हैं।

फसल उगायें, बाजार की अन्धी ताकतों के सामने वे लाचार हैं। चाहे गुजरात और महाराष्ट्र के प्याज और कपास उत्पादक हों या कश्मीर और हिमाचल प्रदेश के फल उत्पादक, सब्जी की खेती करने वाले हों या चाय, कॉफी, मसाला और अनाज पैदा करने वाले किसान, सब की हालत डाँवाडोल है, सबका भविष्य अनिश्चित है।

खेती से होने वाली आमदनी में गिरावट और उससे गुजारा न होने के चलते आज भारी संख्या में किसान खेती करना छोड़ रहे हैं। 1991 से 2001 के बीच के 10 वर्षों में 44 लाख तथा 2001 से 2005 के बीच 1 करोड़ 70 लाख परिवारों को खेती छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 2005।) देश के 40% किसान खेती छोड़कर कोई और रोजगार अपनाना चाहते हैं। लेकिन कोई वैकल्पिक उपाय न होने के कारण उनका खेत छोड़कर कहीं जाना भी सम्भव नहीं। 10 में से 8 किसानों के लिए खेती आज गले की हड्डी बन गयी है।

खेती का वर्तमान संकट : विक त पूँजीवादी विकास का नतीजा

आजादी के बाद हमारे देश के शासकों ने सामन्तवाद विरोधी कार्यभारों को पूरा नहीं किया। उन्होंने अपने संकीर्ण, वर्गीय स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए खेती में मन्थर, अवरुद्ध और सीमित पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाया। उन्होंने मुकम्मिल भूमि-सुधार के अपने वायदे को तिलांजलि दे दी और कुछ खास इलाकों में सीमित हद तक

ही भूमि-सुधार लागू किया। भूमि पर मालिकाने का सवाल गरीब और भूमिहीन किसानों के पक्ष में हल न होने के कारण देश के बड़े इलाके में परजीवी वर्गों के पास जमीन बेकार पड़ी रही। साथ ही उत्पादक शक्तियाँ भी पूरी तरह मुक्त नहीं हुईं।

'60 के दशक में हरितक्रान्ति के नाम पर बड़े भू-स्वामियों, फार्मरों और धनी किसानों को केन्द्र में रखते हुए देश के कुछ चुने हुए इलाकों में उन्होंने खेती में पूँजी, तकनीक, उन्नत किस्म के बीज, खाद, ऊर्जा इत्यादि को बढ़ावा दिया और किसानों को कई तरह के संरक्षण और सहायता प्रदान की। इनमें विश्वबाजार से हिफाजत के लिए आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध और लाइसेंस-परमिट व्यवस्था, समर्थन मूल्य और सरकारी खरीद, को-ऑपरेटिव को बढ़ावा, सस्ते दर पर खाद-बीज-पानी-बिजली-कृषि उपकरण उपलब्ध कराने के लिए सरकारी सहायता, कम ब्याज पर बैंको से कर्ज इत्यादि प्रमुख थे।

आम किसानों की व्यापक पहलकदमी और भागीदारी के बगैर नौकरशाही के जरिये ऊपर से थोपी गयी इन नीतियों और सहूलियतों का लाभ देश के कुछ खास इलाकों के मुट्ठी भर बड़े भूस्वामियों तक ही पहुँच पाया। सहकारी संस्थाओं, ग्रामीण बैंकों और विकास योजनाओं पर कब्जा करके ऊपरी तबके के किसान मालामाल हो गये। छोटे-मझोले मालिक किसानों को भी इन नीतियों ने शुरुआती दौर में एक हद तक राहत प्रदान की। लेकिन इनका सबसे अधिक लाभ उद्योगपतियों को मिला जिनके लिए ग्रामीण क्षेत्र में बाजार का विकास हुआ। हरितक्रान्ति ने अधिकाधिक किसानों को खेती के पूँजीवादी तौर-तरीकों और माल उत्पादन के लिए प्रेरित किया। पिछड़े से पिछड़े इलाके के छोटी से छोटी जोत वाले मालिक किसान भी कृषि लागत और उपज के लिए बाजार पर निर्भर होते गये तथा पूँजी के मालिकों द्वारा उनका निर्मम शोषण भी बढ़ता गया।

आजादी के बाद सामन्तवाद के प्रति नरम और समझौतापरस्त पूँजीवादी नीतियों ने किसानों के बीच ध्रुवीकरण को मन्थर, विलम्बित और पीड़ादायी बना दिया। फिर भी किसान आबादी के एक छोर पर बड़े फार्मर, बड़े भूस्वामी, कुलक और धनी किसान हैं जिनकी संख्या कुल किसान परिवारों के 5% से भी कम है। इनके पास पर्याप्त पूँजी, कृषि उपकरण और सिंचाई के साधन हैं, खेती के अलावा आय के दूसरे स्रोत हैं और ये खेती के लिए दूसरों के श्रम का शोषण करते हैं। यह तबका खेती के वर्तमान संकट से लगभग अछूता है और सुधारों का समर्थन करता है।

दूसरे छोर पर लगभग 80% गरीब और मध्यम किसान हैं, जिनके पास जमीन और संसाधन अपर्याप्त मात्रा में हैं, पूँजी का अभाव है। परिवार में बँटवारे के चलते जोत का आकार छोटे से छोटा होता चला गया है। पूँजीवाद के चौतरफा शोषण और कंगाली-बदहाली के बावजूद ये गुजारे की खेती करने को अभिशप्त हैं। अर्थव्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों में रोजगार के अभाव में खेत के छोटे-छोटे टुकड़ों से बँधे रहना इनकी मजबूरी है। सुधारों का बुलडोजर अभी पूरी रफ्तार पर नहीं पहुँचा है फिर भी उसका सबसे भीषण प्रहार इन्हीं तबकों पर हुआ है। कृषि संकट को न झेल पाने के चलते भारी संख्या में गरीब किसानों ने खेती करना छोड़ दिया, बड़ी तादाद में आत्महत्या करने के लिए मजबूर हुए तथा कम उपभोग, बदहाल जिन्दगी और हाड़तोड़ मेहतन के बल पर जो लोग अभी तक अपने को टिकाये हुए हैं, उनमें भी भविष्य को लेकर बेचैनी और हताशा व्याप्त है।

आम किसानों की समस्याएँ, चाहे पूँजी और तकनीक का अभाव और कर्ज का बोझ हो या लागत मूल्य का बेलगाम बढ़ना और उपज की सही कीमत न मिल पाना, ये सभी समस्याएँ हमारे देश की विकृत-विकलांग पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। लेकिन किसानों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाली और संकट को घनीभूत रूप से अभिव्यक्त करने वाली ये सारी समस्याएँ एक गहरे, जटिल और बहुआयामी संकट के अंश मात्र हैं। आर्थिक संकट के अलावा पर्यावरण का विनाश, जमीन के नीचे के पानी का बेतहाशा दोहन और जल-स्तर में लगातार कमी, जमीन की उर्वरता का क्षरण, जहरीले रसायनों और जैव तकनीक का प्रकृति, मनुष्य, जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों पर विनाशकारी प्रभाव तथा सामाजिक-सांस्कृतिक संकट भी कृषि संकट के महत्वपूर्ण आयाम हैं जिनके ज्यादा दूरगामी और स्थायी दुष्परिणाम सामने आयेंगे। ये सभी समस्याएँ आजादी के बाद की जनविरोधी नीतियों की अनिवार्य परिणति हैं और आने वाले समय में इनके और भी विकट रूप धारण करने की सम्भावना है।

खेती को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करने की नयी साजिशें

'80 के दशक तक हरितक्रान्ति का गुब्बारा पिचकने लगा था। खेती में ठहराव बढ़ता जा रहा था और संकट भी दिनो-दिन गहराता जा रहा था जिस पर यहाँ के शासकों ने उस दौरान बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। 1991 के बाद से विभिन्न पार्टियों की आपसी सहमति से इस दिशा में जो कदम उठाये गये हैं उन्होंने इस संकट को हल करने के बजाय उसे और भी अधिक गहराने का ही काम किया है।

किसानों की आत्महत्याओं के पीछे भी इन नीतियों की कहीं न कहीं भूमिका जरूर है। लेकिन हमारे देश के शासक जनता में आपसी एकता और उन्नत चेतना की कमी का लाभ उठाकर 25 हजार किसानों की मौत के बावजूद चैन की बंशी बजा सकते हैं। जनता को कीड़े-मकोड़े की तरह मारकर भी साम्राज्यवादियों को खुश रखने के लिए कृषि क्षेत्र को अनियन्त्रित और असहाय छोड़ सकते हैं।

सरकार जिस तरह पूरे देश को साम्राज्यवादियों के हवाले करती जा रही है, उसी तरह कृषि क्षेत्र को भी उनके लिए खोल रही है। दुनिया भर के पूँजीपति और बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ खेती को पूँजी-निवेश

और भारी मुनाफे का नया सुरक्षित क्षेत्र मानती हैं। इसलिए कृषि को डंकल प्रस्ताव के जरिये विश्व व्यापार संगठन के अधीन लाया गया और अब हर तरह के सरकारी नियन्त्रण और संरक्षण हटाकर इसे पूँजी-निवेश और मुनाफे के लिए पूरी तरह खोला जा रहा है।

जहाँ तक खेती को संरक्षण और सहायता प्रदान करने का सवाल है, दुनिया भर में पूँजीवादी सरकारें अपनी खेती को संरक्षण न दें तो उसे टिकाये रखना सम्भव नहीं होगा। खेती में प्राकृतिक आपदाओं, मौसम की गड़बड़ी, फसलों के रोगों, बाजार की अनिश्चितता और उद्योग क्षेत्र द्वारा उनकी बेहिसाब लूट को देखते हुए यदि सरकार संरक्षण न दे तो उन देशों के किसान खेती करना छोड़ देंगे। इसके परिणामस्वरूप पूँजीवाद का संकट विकराल रूप धारण कर लेगा क्योंकि उद्योगों के लिए कच्चे मालों की आपूर्ति और उनके मालों की खपत के लिए कृषि क्षेत्र का टिके रहना जरूरी है।

विश्व व्यापार संगठन के जरिये आज साम्राज्यवादी देश तीसरी दुनिया की खेती को अपने हितों के अनुकूल ढालना चाहते हैं। भारतीय शासक उनकी साम्राज्यवादी नीतियों को ही लोकप्रिय और आकर्षक बनाकर जनता पर थोपते जा रहे हैं। लेकिन वे यहाँ की खेती को उस रूप में नियन्त्रित और संचालित नहीं करेंगे जैसे कि अपने देश में करते हैं। अपने देश में वे किसानों को अरबों डालर की सब्सिडी देते हैं और उद्योगों द्वारा उन्हें निगल लिये जाने से बचाते हैं, जबकि हमारे देश में इसे समाप्त किया जा रहा है। उन्हें यहाँ की खेती-किसानी के तबाह होने की चिन्ता नहीं है। जब हमारे अपने देश के शासकों को नहीं है तो भला उन्हें क्यों होगी। साम्राज्यवादी चाहते हैं कि भारत के किसान अनाज पैदा करना छोड़ दें और हम पूरी तरह उनके मुहताज हो जायें। वे चाहते हैं कि यहाँ के खेत, पानी और अन्य प्राकृतिक संसाधन, लाखों प्रजातियों के पेड़-पौधों के जीन, प्रयोगशालाएँ, यहाँ के वैज्ञानिक, किसानों और पैदावार पर उनका पूरी तरह कब्जा हो जाये। किसानों के लिए ठेका खेती, कृषि विविधीकरण, पानी का निजीकरण जैसे उपायों से मूलतः देशी-विदेशी थैलीशाहों का ही भला होगा। ऊपरी तबके के मुट्ठीभर सम्पन्न किसान भी कुछ हद तक इससे लाभ उठा सकते हैं, लेकिन गरीब और मध्यम किसानों के लिए तो यह और भी विनाशकारी साबित होगा।

किसानों की आत्महत्याओं ने आम किसानों के संकट के दो प्रमुख कारणों को तीखेपन से उजागर किया था। पहला, सरकार द्वारा लम्बे समय से खेती की घोर उपेक्षा तथा दूसरा, पूँजीवादी शक्तियों द्वारा किसानों की निर्मम लूट। अब तक का अनुभव बताता है कि सरकार द्वारा लागू की गयी नीतियाँ तथा विभिन्न संगठनों, व्यक्तियों और कमेटियों द्वारा दिये गये सुझाव संकट के इन्हीं दोनों कारणों को और गहराने में सहायक हैं। सुधारों की रामबाण दवा के नाम पर किसानों को जहर दिया जा रहा है। संकट से उबारने के बहाने उन्हें और भी भीषण संकट की ओर धकेलने की साजिश रची जा रही है।

यह संकट हल कैसे होगा?

खेती के संकट को हल करने के दो रास्ते हो सकते हैं। एक रास्ता है अपने देश के संसाधनों और जनता की सामूहिक क्षमता को समायोजित करके मेहनतकशों के हक में खेती का पुनर्गठन। दूसरा रास्ता है, देशी-विदेशी पूँजीपतियों और समाज के ऊपरी तबके के हित में नीति निर्माण। हमारे देश का शासक वर्ग इस दूसरे वाले रास्ते पर चलने को कटिबद्ध है। उसने आम जनता के हित में सोचना पूरी तरह बन्द कर दिया है और मान लिया है कि पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियाँ ही अब खेती का उद्धार कर सकती हैं।

क्या हमारे देश के किसान विश्वबाजार की दानवी शक्तियों का मुकाबला कर सकते हैं? एक तरफ हजारों एकड़ जमीन के मालिक साम्राज्यवादी देशों के किसान हैं जिन्हें सरकार से अरबों डालर की सालाना सब्सिडी मिलती है। दूसरी ओर कर्जे और अभाव में डूबे हमारे देश के साढ़े छह करोड़ छोटी जोत वाले किसान हैं जिन्हें किसी भी तरह की सहायता देने से सरकार हाथ उठा चुकी है। गैरबराबर

ठेका खेतीः
किसानों को फाँसने के लिए एक और फन्दा

खेती को संकट से उबारने के लिए जो अचूक नुस्खे सुझाये जा रहे हैं उनमें से ठेका खेती की चर्चा आज काफी जोरों पर है। केन्द्र सरकार ने ठेका खेती के रास्ते में आने वाली कानूनी रुकावटों को दूर करने के लिए कृषि उत्पाद विपणन (विकास एवं नियमन) कानून तैयार किया है जिसे उत्तर प्रदेश, कर्नाटक और राजस्थान सरकार ने स्वीकार कर लिया है। अब एक आदर्श कानून के रूप में इसे लागू करने के लिए अन्य राज्यों पर भी दबाव बनाया जा रहा है। जल्दी ही यह देशभर में लागू हो जायेगा। इसके तहत मण्डी समितियों के समानान्तर प्राइवेट मण्डी खोलने के लिए राज्य सरकार बढ़िया इलाके में सस्ती और पर्याप्त जमीन पूँजीपतियों को देगी। कृषि उत्पाद की आवाजाही और बिक्री पर हर तरह के प्रतिबन्ध हटा लिये जायेंगे। लाइसेंसशुदा व्यापारियों से खरीद-बिक्री करने के बजाय अब बहुराष्ट्रीय कम्पनी और निर्यातक सीधे किसानों से करार (काण्ट्रेक्ट) करके खरीद करेंगे। दाम तय करने में सरकार की कोई भूमिका नहीं होगी। छोटे किसानों का सीधे एग्रो इण्डस्ट्रीज और देशी-विदेशी कम्पनियों से सम्बन्ध होगा। इन फैसलों से आम किसानों का कोई भला नहीं होने वाला। सबका निचोड़ यही है कि कृषि व्यापार, मूल्य निर्धारण और खरीद-बिक्री में सरकार की कोई दखलन्दाजी न रहे, ताकि पूँजीपति खुलकर खेल सकें।

किसानों को ठेका खेती का कड़वा स्वाद पहले ही मिल चुका है। आन्ध्र प्रदेश के चित्तूर जिले में किसानों ने 30-40 हजार प्रति एकड़ खर्च करके 2003-2004 में खीरे की खेती की थी। दुनिया के बाजारों में खीरे के भाव गिरने का हवाला देकर कम्पनियों ने फसल खरीदने से इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप चित्तूर जिले के हजारों किसान कर्ज के जाल में फँसकर तबाह हुए। आलू, टमाटर, बासमती धान और अन्य फसलों के मामले में भी ऐसे उदाहरण सामने आये हैं।

लोगों के बीच इस प्रतियोगिता का एक ही नतीजा होगा– देश के अधिकांश किसानों की तबाही। अपनी नीतियों के जरिए हमारे देशी शासकों और साम्राज्यवादी देशों की यही मंशा है। इलाकाई पैमाने पर अपनी तात्कालिक माँगों के लिए लड़कर कुछ हासिल करना भी अब बीते जमाने की बात होती जा रही है। और यदि सरकार दबाव में कुछ दे भी दे तो इससे संकट थोड़े समय के लिए टल जायेगा, स्थायी रूप से हल नहीं हो पायेगा।

खेती का संकट एक देशव्यापी संकट है। किसी खास इलाके या किसी खास किसान के ऊपर इसका असर कम या ज्यादा हो सकता है लेकिन थोड़े से लोगों को छोड़कर देश के किसानों की भारी तादाद इसकी चपेट में है। इसलिए इस संकट को सतही तौर पर और टुकड़े-टुकड़े में समझने और हल करने का कोई भी प्रयास किसानों की इस विपत्ति को समाप्त नहीं कर सकता। वर्तमान नीतियों के दायरे में किसानों के लिए राहत का हर सरकारी-गैरसरकारी झाँसा, दरअसल पूँजीवाद को ही मजबूत बनायेगा, जो खुद ही किसानों की सारी समस्याओं की जड़ है।

हमारे देश में उर्वर जमीन, पेड़-पौधों और फसलों की लाखों किस्में, जलस्रोत और विविधतापूर्ण जलवायु के रूप में प्रकृति का अनमोल खजाना मौजूद है। इनका सही ढंग से उपयोग करने पर हमारी धरती सोना उगल सकती है। लेकिन मुनाफाखोरी इस राह में सबसे बड़ी रुकावट है। इसी का नतीजा है कि आज हमारी जमीन की उर्वरा शक्ति क्षीण हो रही है, जलस्रोत सूख रहे हैं, उत्पादकता घट रही है और किसान खेती से बाहर धकेले जा रहे हैं। कोई एक किसान न तो इसके लिए जिम्मेदार है और न ही वह अकेले-अकेले इसे हल कर सकता है। यह काम सामूहिक प्रयास से ही सम्भव है।

पानी के प्रबन्धन को ही लें। कोई अकेला किसान इसके हल के बारे में सोच भी नहीं सकता। पूरे देश के पैमाने पर सिंचाई के बहुआयामी साधन और तरीके अपनाकर, नहरों का जाल बिछाकर, सामूहिक सिंचाई व्यवस्था और जलसंरक्षण को बढ़ावा देकर ही जलस्तर लगातार नीचे गिरने और स्थायी सूखे की समस्या से निपटा जा सकता है। जो सरकार अपनी भूखी जनता से राशन का 5 किलो अनाज छीन सकती है, उससे यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि वह लाखों करोड़ रुपये खर्च करके इस विराट योजना को लागू करेगी। उसने इस काम का ठेका साम्राज्यवादियों को देना शुरू कर दिया है। कई राज्यों में विश्वबैंक की जलपरियोजनाएँ चल रही हैं। सभी राज्य लालायित हैं कि विदेशी वहाँ आयें और पानी पर अपना कब्जा जमायें। 2006 में पानी का विदेशीकरण सरकार की प्राथमिकता सूची में शामिल है। ऐसा हुआ तो भारत के जल संसाधनों पर साम्राज्यवादियों का कब्जा निश्चित है।

क्या अपने दम पर किसानों के हित में पानी का प्रबन्धन असम्भव है? जनता की सामूहिक शक्ति, उनकी पहलकदमी और भागीदारी के बल पर कई देशों ने बिना विदेशी सहायता के इसे कर दिखाया है। हम भी ऐसा कर सकते हैं।

साम्राज्यवादी हमारे देश का विकास करने नहीं आ रहे हैं। वे हमारे संसाधनों का बेतहाशा दोहन करेंगे और किसानों को अंग्रेजी राज के दौरान नील की खेती करने वाले किसानों से भी बदतर हालत में पहुँचा देंगे। ठेके पर जमीन लेंगे, तो अधिकाधिक मुनाफे की हवस में जमीन का पानी सोख लेंगे और खेतों को ऐसा बंजर करके छोड़ जायेंगे कि उनमें घास का एक तिनका भी नहीं उगेगा।

खेती को संकट से उबारने के लिए सबसे जरूरी यह है कि विदेशी पूँजी और तकनीक पर भरोसा करने के बजाय अपनी जनता पर भरोसा किया जाये। अपने देश और जनता के व्यापक और दूरगामी हितों को केन्द्र में रखकर विचार करें तो सामूहिक और सहकारी खेती का विकल्प अपनाकर इस संकट का स्थायी समाधान सम्भव है। अपनी क्षमता और संसाधनों को सामूहिक रूप से समायोजित करने के अलावा कोई और विकल्प नहीं। लेकिन यह तभी हो सकता है जब शासन और समाज के पूरे ढाँचे का रूपान्तरण किया जाये, शासन की बागडोर मेहनतकश जनता अपने हाथ में ले और हर छोटे-बड़े फैसले में उसकी प्रत्यक्ष भागीदारी हो। जनसंघर्षों का वेगवाही तूफान ही जनता में लोकतान्त्रिक चेतना और देश के नवनिर्माण की असीम ऊर्जा उत्पन्न कर सकती है।

निश्चय ही यह आसान काम नहीं। लेकिन विचार-विमर्श और वाद-विवाद के जरिये इसके सभी पहलुओं को अच्छी तरह समझना और अधिकाधिक लोगों तक उसे पहुँचाना इस दिशा में उठाया गया पहला कदम होगा। हो सकता है कि एक साथ सभी लोग इसे समझ न पायें और इससे सहमत न हो पायें। हो सकता है कि कोई इसे पूरी तरह रद्द कर दे या कपोल कल्पना कहकर इसका मजाक उड़ाये। किसी भी नये विचार को एक साथ सभी लोगों द्वारा ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। अंग्रेजों से आजादी की बात को लोग पहले कल्पना की उड़ान ही मानते थे। यह भी हो सकता है कि जनता के बीच लगातार बहस-मुबाहिसे के दौरान इससे बेहतर विकल्प उभर कर सामने आये। इस दिशा में पहल और प्रयास करना आज समय की माँग है, क्योंकि जो नीतियाँ चल रही हैं वे हमें एक गहरी खाई की ओर धकेलती जा रही हैं। यह हम पर निर्भर है कि आँख मूँदकर हम धारा के साथ बहते चले जायें, या आपस में मिलजुलकर सही विकल्प के तलाश की ओर बढ़ें। p

सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोये।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोये।।
– कबीर

संस्क ति

तुमने अपने लोगों पर थूका और उन्होंने स्वागत में तालियाँ बजायीं*

—अरविन्द

साहित्य में नोबेल पुरस्कार पाये त्रिनिदाद एण्ड टोबैगो के भारतीय मूल के साहित्यकार वी.एस. नायपॉल के बारे में कवि डेरिक वालकॉट की एक कविता की ये दो प्रथम पंक्तियाँ हैं।

स्वदेशी, स्वावलम्बन और स्वाभिमानियों के महानायक अटल बिहारी वाजपेयी जब एक बार रूस गये तो पुतिन की मेहरबानी से उन्हें जार्जबुश के बगल में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन्हें ज्ञात हुआ कि बुश शराब नहीं पानी पीता है।** इस जानकारी से और बुश के बगल में बैठने के विशेषाधिकार से वे फूले नहीं समाये और इस बात का इस तरह बखान किया, मानो यह कोई महान वैज्ञानिक खोज हो।

हमारे युवा प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी फ्रांसीसी क्रान्ति की 200वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में फ्रांस गये थे। इस अवसर पर दुनिया भर के राष्ट्राध्यक्ष और नेता आमन्त्रित थे। लेकिन फ्रांस के राष्ट्रपति के साथ सेरीमोनियल डिनर के लिए केवल सात विकसित पूँजीवादी राष्ट्रों के राष्ट्राध्यक्षों को बुलाया गया। बाकी को बाहर ही दावत दे दी गयी। लेकिन राजीव गाँधी को इसमें कोई शर्म नहीं आयी क्योंकि हम 'ट्रिकिल डाउन थ्यौरी' में विश्वास करते हैं और उच्छिष्ट पाकर अपने को और भी धन्य समझते हैं।

हाल ही में हैदराबाद में आयोजित आप्रवासी भारतीयों के सम्मेलन में अमरीका के एक गुजराती आप्रवासी भारतीय को पुरस्कृत किया गया। नरेन्द्र मोदी की अमरीका जाने की घोषणा के बाद वहाँ उसके स्वागत के लिए भीड़ जुटाने में वह अगुवा था। यह अलग बात है कि अमरीकी वीजा नहीं मिलने से मोदी जा नहीं पाया। जब अन्य आप्रवासी भारतीयों ने उस व्यक्ति को पुरस्कार दिये जाने का विरोध किया तो पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करके एक कमरे में बन्द कर दिया। सरकार को उम्मीद है कि वह आदमी भारत के लिए पूँजी जुटाने में सहायक होगा। एक जनसंहारक का समर्थक होना कोई बहुत बड़ा दुर्गुण नहीं, बशर्ते वह पूँजी निर्माण में मददगार हो।

सुष्मिता सेन और ऐश्वर्य राय विश्व सुन्दरी बनने के बाद 10 घोड़ों की बग्घी पर बैठकर दिल्ली की सड़कों से गुजरती हुईं राष्ट्रपति से मिलने गयीं और राष्ट्रपति भवन में उनका जोरदार स्वागत हुआ। इनकी एकमात्र महत्वाकांक्षा फिल्मों में काम करके धन कमाना और सस्ती शोहरत लूटना थी।

अमरीकी नागरिक कल्पना चावला के मरने की खबर पूरे देश में इस तरह प्रचारित की गयी, मानो पूरा देश शोकाकुल हो। हम लक्ष्मी मित्तलों और स्वराजपालों की प्रशंसा में दरबारी चारणों और भाटों की तरह गीत गाते हैं।

हॉलीवुड की तर्ज पर मुम्बई की फिल्मनगरी का नाम बॉलीवुड रख लिया गया। यहाँ के सिनेमा में काम करने वाले हर कलाकार की एक ही तमन्ना है कि किसी तरह वह हालीवुड की किसी फिल्म में काम कर ले तो उसका जीवन धन्य हो जाय।

कला के नाम पर हाथ-पाँव और कूल्हे मटकाने वाले लोग भारत की नौजवान पीढ़ी के हीरो बने हुए हैं। मल्लिका शेरावतों का निर्लज्ज नग्न प्रदर्शन लोगों के लिए आदर्श बनता जा रहा है जो हरियाणा की औरतों के बारे में कहती है कि उन्हें घेर (जानवरों को बाँधने के लिए बाड़ा) में रखा जाता है।

साधु-सन्यासी और मठाधीश भी जब तक अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि नहीं घूमते रहते, तब तक उन्हें बेवकूफ ही समझा जाता है, जब तक गोरे उनके आश्रमों की शोभा न बढ़ायें, तब तक उनका त्याग और तपस्या फलीभूत नहीं होती। यहाँ तक कि गाय के खुर के बराबर चोटी रखने वाले भारतीय परम्परा के रक्षक भी किसी जर्मन विद्वान को उद्धृत करते हैं कि उसने चोटी रखने के कितने फायदे गिनाये हैं।

---

*"You spit on your people
Your people applaud
Your former oppressors laurel you
The thorns biting your forehead are contempt
Disgquised in concern"

– Derrek Walcott

**यह घटना पीटर्सबर्ग की वार्षिकी के अवसर पर दिये गये भोज के दौरान घटी। बुश एक जमाने में ड्रग एडिक्ट था। नशीली दवाओं की लत छुड़ाने के लिए उसे इलाज करवाना पड़ा। तब से सेरीमोनियल भोज या आयोजनों में वह शराब की जगह पानी पीता है।

सलमान रुश्दी, विक्रम सेठ, अमिताभ घोष, जुम्पा लाहिड़ी जैसे लोग अखबारों में छाये रहते हैं और भारतीय शिक्षित वर्ग के पढ़े जाने लायक समझे जाते हैं जबकि हिन्दी, बंग्ला, तमिल, मलयाली और अन्य भारतीय भाषाओं में लिखने वाले लेखक उपेक्षित और अस्पृश्य हैं। पढ़े-लिखे लोगों की भाषा हिन्दी से हिंगलिश होती जा रही है। उन्हें हिन्दी नहीं जानने का कोई अफसोस नहीं, किसी भी तरह अंग्रेजी आनी चाहिए। शायद ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम आज की पीढ़ियों को पता हो जिन्होंने कहा था, ''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।'' आजादी की लड़ाई को अपनी कलम से लड़ने वाले भारतीय भाषाओं के लेखक आज कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की कक्षाओं में कैद होकर रह गये हैं।

अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी इत्यादि देशों में भारतीय बच्चों को उनकी मातृभाष के हिसाब से पंजाबी, गुजराती, तमिल आदि में शिक्षा दी जाती है लेकिन हमारे यहाँ पैदा होने के साथ ही उन्हें अंग्रेजी की घुट्टी पिलायी जाती है। हमारे मध्यमवर्ग के शिक्षित नौजवान साइबर कुली* बनकर अपना जीवन धन्य समझते हैं। विदेशी थैलीशाहों और आप्रवासी भारतीय पूँजीपतियों को आये दिन पुरस्कारों से नवाजा जाता है।

पिछले 30-35 सालों से देशी-विदेशी प्रचारतन्त्र (प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया) लगातार घृणास्पद, प्रतिक्रियावादी जीवन मूल्यों को स्थापित करने में लगा है। जनता के किसी भी हिस्से और किसी भी तबके का आदमी मंच से बाहर धकेल दिया गया है, आज हाशिये पर भी उसके लिए जगह नहीं है। डॉन, माफिया, स्मगलर, राजनीतिक अपराधी और न्यूयार्क तक के माफियाओं और गुण्डा गिरोहों को हमारे देश में मंच पर प्रतिष्ठित किया जा चुका है। ये डॉन और माफिया ही आज हीरो के तौर पर स्थापित हैं।

कल के सम्मानित समाचारपत्र भी हॉलीवुड की हीरोइन की छोटी सी छोटी बातें अपने अखबार में छापते रहते हैं, जैसे–किसको बच्चा होने वाला है, किसकी टाँग टूटी है, किसने वजन बढ़ा लिया है और किसने घटा दिया है, मानो भारतीय जनता के लिए यह सब जानना बहुत जरूरी हो। निश्चित तौर पर या तो ऐसी रुचियाँ पैदा की जा चुकी हैं या पैदा करने के प्रयास हो रहे हैं। इस प्रयास में वे सफल भी होते दिखायी दे रहे हैं। तर्कपरकता और इन्साफ की बहुत क्षीण सी आवाज भी कभी-कभार ही सुनायी देती है। लेकिन उसका गला घोंटने के लिए भी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी प्रचारतन्त्र निरन्तर विषवमन करता रहता है। सच, इन्साफ, तर्कपरकता, वैज्ञानिकता और प्रगतिशील जीवन-मूल्यों पर सुनियोजित और निरन्तर हमले जारी हैं।

भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य का यह एक हिस्सा भर है। इसके दूसरे हिस्से के रूप में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के नाम पर सतीप्रथा, अन्धविश्वास, कुरीतियों, फलित ज्योतिष, वास्तुशास्त्र और जितनी भी तरह का प्राचीन और मध्ययुगीन कूड़ा-कचरा है, सबमें रंग-रोगन लगाकर लोगों के उपभोग के लिए पेश किया जा रहा है। पुराने आश्रमों, मठों और डेरों के साथ-साथ हजारों की संख्या में नये आश्रम, मठ और डेरे पैदा हो रहे हैं। इनका एक मात्र काम दिशाहीन, निराश, जीवन में कलह और वंचना से परेशान लोगों को एक झूठा यूटोपिया (आदर्शलोक), सपना या विकल्प दिखाकर लूटना और उनकी चेतना को कुण्ठित करना है। धर्म की जगह धार्मिकता ले चुकी है और ठगों की चाँदी है।

आये दिन समाचारों में आता रहता है कि शरीफ घरों की लड़कियाँ, मसलन एक जनरल की बेटी, एक बड़े व्यापारी की बहन या एक नौकरशाह की भतीजी कॉलगर्ल या अश्लील वीडियो फिल्म बनाने के धन्धे में पकड़ी गयी; 65-70 साल के बूढ़े तीन और पाँच साल की बच्चियों से बलात्कार करते पकड़े गये; कोई लड़का अपनी दोस्त लड़की को बहला-फुसला कर ले गया और उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया गया; राजनीतिक पार्टियों के प्रतिष्ठित नेता, हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के जज, बड़े नौकरशाह, व्यापारी और प्रबन्धक सामान्य आपराधिक मामलों में लिप्त पाये गये। आज ऐसे लोग भी अपराधों में लिप्त दिखायी दे रहे हैं जिनके बारे में पहले कभी कल्पना करना भी मुश्किल था। खुदा उनका भला करे और उन्हें शान्ति दे।

स्वर्गीय पी.वी. नरसिम्हाराव जब भारत के प्रधानमन्त्री थे तो उन्होंने घूस देकर संसद में बहुमत हासिल करने का प्रयास

---

*साइबर कुली: बिजनेस प्रोसेस आउटसोर्सिंग के जरिए हमारे देश में बहुत से कॉल सेण्टर और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दफ्तर खुले हैं, जिनमें रात में जाकर काम करना पड़ता है। भारत में मजदूरी बहुत सस्ती होने के कारण विदेशी कम्पनियाँ अपने ग्राहकों की शिकायतें सुनने, उन्हें खरीदने के लिए प्रोत्साहित करने, सूचनाएँ स्टोर करने, साफ्टवेयर टेस्ट करने जैसे दोयम दर्जे के काम भारत में करवाना पसन्द करती हैं। इन मजदूरों को साइबर कुली कहा जाता है।

इन्हें 12-12 घण्टे काम करना पड़ता है, अक्सर भारतीय होने के नाते नस्लवादी अहंकार से भरे विदेशियों द्वारा अपमानित होना पड़ता है, वे समाज और परिवार से पूरी तरह कट जाते हैं और अक्सर रात्रिकालीन शराब पार्टियों, नशीली दवओं, स्वच्छन्द सेक्स और तरह-तरह की मनोविकृतियों के शिकर हो जाते हैं। इनमें 7% से ज्यादा लोग भयानक बीमारियों के कारण नौकरी छोड़ देने के लिए बाध्य होते हैं। इस सबके बावजूद उन्हें संगठित होने का अधिकार नहीं है।

किया। वे एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और प्रतिष्ठित नेता थे। अभी हाल ही में क्वात्रोची को नये साल पर 24 करोड़ रुपये का तोहफा दिया गया। यह बोफोर्स काण्ड का कुख्यात अपराधी तथा सोनिया, राजीव और इन्दिरा परिवार का खासमखास रहा है। उसके खाते से पाबन्दी हटा दी गयी। भारत के ईमानदार प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह और मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य एक स्वर में झूठ बोलकर सच्चाई को छिपाने में लगे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि मनमोहन सिंह ईमानदार आदमी हैं और जहाँ तक व्यक्तिगत ईमानदारी का प्रश्न है, उनका अतीत बिल्कुल पाक-साफ है लेकिन क्वात्रोची, सोनिया और मन्त्रिमण्डल को बचाने के लिए उन्हें अपने जमीर को ताक पर रखकर झूठ बोलना पड़ा है।

भारत की ज्यादातर विधानसभाएँ और संसद अपराधियों से भरी पड़ी हैं। किसी जमाने में गृह सचिव रहे बोहरा की रिपोर्ट में राजनीतिज्ञों, व्यापारी, नौकरशाह और अपराधियों के गठजोड़ का खुलासा किया गया है लेकिन आज तक यह रिपोर्ट न तो संसद में पेश की गयी और न ही जनता के सामने, हालाँकि तबसे कई सरकारें आयीं और गयीं।

भारत के इस सांस्कृतिक परिदृश्य के लक्षणों को गिनाने के लिए कई खण्डों की पुस्तक भी कम पड़ जायेगी।

यह सब कुछ दुखद, क्षोभकारी और अवसादपूर्ण है। सभी इससे दुखी हैं। कम से कम 99% लोग तो अवश्य ही बहुत परेशान हैं। कोई नहीं चाहता कि ऐसा हो, वे लोग भी नहीं जो झूठ बोलने और गलत काम करने के लिए बाध्य कर दिये जाते हैं। इनमें मनमोहन सिंह, नरसिम्हाराव और वेंकटरमण जैसे प्रतिष्ठित लोग और बहुत सारे अन्जान लोग भी आते हैं। लाखों-करोड़ों साधारण जनता और वे लोग भी जो अपराधों में शामिल हैं– सभी इस स्थिति से क्षुब्ध और दुखी दिखायी देते हैं।

अगर बात महज इतनी ही होती तो फिर भी कोई बात थी। सबसे दुखद बात तो यह है कि सभी अपने को असहाय भी महसूस करते हैं। वे सोचते हैं कि इसका कोई निदान सम्भव नहीं। चन्द-एक ऐसे लोग जो कुछ करने के बारे में सोचते हैं या तो उन्हें सत्येन्द्र दुबे की तरह हमेशा के लिए रास्ते से हटा दिया जाता है या उनकी आवाज का गला घोंट दिया जाता है, कुछ को आतंकित करके चुप कर दिया जाता है। अन्ततः लोग असहाय और लाचार महसूस करते हैं।

यह जरूर है कि थोड़े से लोग इसकी तह में काम कर रही आर्थिक और सामाजिक ताकतों को काफी हद तक पहचानते हैं और इस स्थिति को बदलने का भी प्रयास कर रहे हैं लेकिन फिलहाल वे लघुसंख्यक हैं।

नीचे की पंक्तियों में इस परिस्थिति की तह में काम कर रही आर्थिक और सामाजिक शक्तियों को चिह्नित करने और उन्हें समझने का प्रयास किया जायेगा। कहते हैं कि किसी समस्या को समझ लेना, उसका आधा समाधान भी होता है। लेकिन अगर आधा समाधान न भी हो तो भी समस्या को समझकर उसके समाधान की दिशा में अग्रसर तो हुआ ही जा सकता है।

लोग कहते हैं कि कृष्ण को बहेलियों ने मारा था, जंगल के आदिवासी भीलों ने अर्जुन से उसका गाण्डीव छीन लिया था। इस लोकमत में कितनी सच्चाई है पता नहीं, लेकिन इस तथ्य के जरिए लोग जो सन्देश देना चाहते हैं, वह बिल्कुल सच है। वे बताना चाहते हैं कि जमाना सबसे ताकतवर होता है, इससे बड़ी कोई ताकत नहीं।

महाभारत के युद्ध को कृष्ण अपनी पूरी ताकत लगाकर भी नहीं रोक सके। इतिहासकारों का मानना है कि महाभारत का युद्ध जमीन के लिए हुआ था। चरागाह युग खत्म हो गया था और खेती-बाड़ी की व्यवस्था स्थापित होने लगी थी। लोगों की भाषा में कहें तो जमाना बदल गया था। चरागाह युग की सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ तिरोहित हो रही थीं और भूमि के मालिकाने पर आधारित सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ पल्लवित और पुष्पित होने लगी थीं, फलस्वरूप महाभारत का युद्ध।

भारत के एक मशहूर चिन्तक ने लिखा है कि इस्लाम जब भारत की सीमाओं पर दस्तक दे रहा था, तो भारत औंधे मुँह पड़ा था। यही बात ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने के पहले के भारत की स्थिति के बारे में भी कही जा सकती है।

पिछली सदी के '80 के दशक में स्थिति हू-ब-हू ऐसी तो नहीं पर उससे काफी मिलती-जुलती जरूर थी। नेहरू का पूँजीवाद जो उस समय की राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में भारत के पूँजीपति वर्ग की क्षमता की उपज था, '80 के दशक तक आते-आते दम तोड़ रहा था। ठीक ऐसे ही समय में घटनाचक्र बहुत तेजी से आगे बढ़ा। रूस में गोर्वाचोव के उदय, बर्लिन की दीवार के गिरने, येल्तसिन के प्रादुर्भाव और रूसी गणराज्य के विघटन के साथ पूँजीवादी-साम्राज्यवादी सामाजिक-आर्थिक शक्तियों को अपनी पूरी ताकत के साथ दुनिया में काम करने का मौका मिला। साम्राज्यवाद ने अपनी नीतियाँ बदलीं; समाजवाद से लड़ते हुए और तीसरी दुनिया के मुक्तियुद्धों को झेलते हुए तथा एक शक्तिशाली समाजवादी खेमे की मौजूदगी के दौर में– संक्षेप में तत्कालीन विश्व में वर्ग-शक्तियों के सन्तुलन के हिसाब से निर्धारित अपनी पुरानी

रणनीति का उसने परित्याग कर दिया और बदली हुई परिस्थितियों में अपने अनुकूल वर्ग-शक्ति सन्तुलन के अनुरूप एक नयी नीति का अनुसरण किया; वह नये-नये नारे और नयी परिभाषाएँ गढ़ने लगा। विश्व पूँजीवाद और साम्राज्यवाद, जो एक चिरन्तन संकट का शिकार हो गया था और उसकी पूँजी के विस्तार की सम्भावनाएँ क्षीण होने लगी थीं, अब पूर्व समाजवादी देशों और तीसरी दुनिया के देशों में अपने हाथ-पाँव पसारने का सुअवसर देख रहा था, जहाँ पूँजी और पूँजीवाद के विस्तार के लिए अभी भी काफी गुंजाइश थी।

साम्राज्यवाद ने अपने चेहरे पर पड़े मानवीयता और प्रगतिशीलता के नकाब को उतार फेंका और विश्व रंगमंच पर निर्लज्ज और क्रूर नर्तन करने लगा।

उसने प्रगति पर, तर्कपरकता पर, मजदूर वर्ग पर, मेहनतकश जनता पर और दुनिया की जनता के समूचे हिस्से पर नंगा आक्रमण शुरू कर दिया और उसके आर्थिक-राजनीतिक अधिकारों को एक-एक कर छीनने लगा। सुनियोजित तरीके से पुरानी और नयी, मध्ययुगीन और आधुनिक, साम्राज्यवादी और सामन्ती जीवनमूल्यों और संस्कृति का जहरीला कॉकटेल बनाकर प्रचारित करने लगा ताकि लोगों की चेतना को कुन्द किया जा सके, अफीम पिलाकर उनके मस्तिष्क को संवेदना शून्य किया जा सके और अपने लूट, मुनाफे, आधिपत्य और वर्चस्व के लिए दुनिया में एक ऐसे समाज की स्थापना की जा सके जहाँ पर प्रतिरोध जैसी कोई चीज न हो, संघर्ष न हों, विरोधी आवाजें न हों और जनक्रान्तियों का हौवा उसे न डरा सके।

इसके लिए उसने इतिहास के अन्त की भी घोषणा कर दी। इसका मतलब यही था कि अब जो भी है, उसी के सहारो जीने की कोशिश करो, अब नया कुछ भी होने वाला नहीं, यही तुम्हारी नियति है। इसके लिए उसने देशी-विदेशी सभी याज्ञवल्कों को यज्ञों में आमन्त्रित किया, गोष्ठियाँ रचायीं, वाद-विवाद करवाये और उसका भाष्य करके रंग-बिरंगे रूपों में नाना प्रकार से अपने प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक मीडिया के जरिये जनता में परोसने लगा।

उसका नारा था– सब कुछ पूँजी के लिए, सब कुछ पूँजी संचय के लिए, सब कुछ बाजार के लिए और सब कुछ मुट्ठीभर देशी-विदेशी थैलीशाहों के लिए। मेहनतकशों के लिए बस उतना ही, जितने से वे अपनी दिनभर की थकान मिटाकर दूसरे दिन फिर काम में लग सकें और उसकी पूँजी और मुनाफा बढ़ा सकें।

औरत पहले ही उपभोग की वस्तु बनायी जा चुकी थी, अब वह दुनिया के बाजार में खरीदी-बेची जाने भी लगी। पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। वह अब औरत की आँख अलग, बाँह अलग, स्तन, नाभि और जाँघें अलग-अलग करके खरीदने-बेचने लगा है।

हॉलीवुड में एक फिल्म बनी थी जिसमें एक माफिया पैसे के लिए अपनी सगी बहन के पति को मरवा देता है। जब उसकी बहन ने उस माफिया सगे भाई से पूछा कि ''क्या यह सच है कि तुमने मेरे पति को मरवाया है?'' तो उसने कहा, ''यह बिल्कुल सच है।'' फिर उसकी बहन ने पूछा कि ''तुमने ऐसा क्यों किया?'' तो उसका उत्तर था, ''ऐसा मेरे धन के विस्तार के लिए जरूरी था।'' फिर बहन ने जब पूछा, ''क्या पूँजी के विस्तार के लिए तुम मुझे भी मरवा दोगे?'' तो उसने बिना उत्तेजित हुए बिल्कुल शान्त और संयत स्वर में कहा, ''बेशक!''

पूँजीवाद की इस सामाजिक-आर्थिक ताकत की तार्किक परिणति और उसके अन्तिम निष्कर्ष को यह फिल्म बहुत सशक्त रूप में प्रस्तुत करती है। ऐसे में अगर हमारे सम्मानित नेता बाजार में अपना जमीर बेचें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? हमारी बेटियाँ और बहनें बाजार में अपना शरीर बेचें तो इसमें शर्म की क्या बात है। जब हमने इन सामाजिक-आर्थिक शक्तियों का वरण किया है तो इनके स्वाभाविक परिणामों से कैसे बच सकते हैं।

लोग कहते हैं कि कलियुग में पाप सोने में निवास करता है। परीक्षित के राजमुकुट में सोना था, उसको पहनने के बाद उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी और उसने एक ऋषि के गले में मरा हुआ साँप डाल दिया जो उसके विनाश का कारण बना। अगर हम इन दुखों से छुटकारा पाना चाहते हैं, तो इन सामाजिक-आर्थिक शक्तियों की जड़ खोदकर उसमें खौलता हुआ पानी डालना होगा ताकि फिर इसके अंकुर न फूट सकें।

सोने को सर पर रखने के बजाय, उसे शौचालय में इस्तेमाल करना होगा ताकि बुद्धि को भ्रष्ट होने से बचाया जा सके। तभी हम इस फूहड़पने से, इन दुखों, विद्रूपताओं, वंचनाओं और विडम्बनाओं से मुक्ति पा सकते हैं। यह एक लम्बी और कठिन लड़ाई है और एक लम्बे अर्से के बाद ही इसे जीता जा सकता है। इसका कोई तात्कालिक और सस्ता समाधान सम्भव नहीं है। p

> अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
> उठाने ही होंगे
> तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।।
>
> – मुक्तिबोध

रोजा पार्क्स :
एक चिंगारी सारे जंगल में आग लगा सकती है

—उज्ज्वला

24 अक्टूबर 2005 को अमरीका के नागरिक अधिकार आन्दोलन की एक बहादुर सिपाही रोजा पार्क्स का निधन हो गया। बस में गोरों के लिए सीट छोड़ने से इन्कार करके उसने दासता के अन्धकार में उम्मीद की एक किरण जगायी। उसके इस छोटे से प्रतिरोध की गूँज रंगभेद के खिलाफ लड़ रहे काले (अफ्रीकी-अमरीकी) समाज में दूर-दूर तक पहुँची।

अमरीका के दक्षिणी इलाके के अलाबामा राज्य में, 1913 में रोजा का जन्म एक मजदूर परिवार में हुआ। बचपन से ही उसने गोरों के साम्राज्य में काले नागरिक होने और ऊपर से औरत होने के दोहरे दर्द को जाना था। वह अपने लोगों के दुख-तकलीफ से सरोकार रखती थी और काले लोगों पर हो रहे अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ रहे संगठनों में सक्रिय थी। एक अफ्रीकी-अमरीकी औरत के लिए वह बहुत कठिन समय था। वह सिलाई सीखकर अपनी रोजी-रोटी कमाने लगी थी।

वैसे तो अमरीका में गुलामी प्रथा 1860 में ही कानूनी तौर पर खत्म कर दी गयी थी, लेकिन रंगभेद का सत्तर साल बाद भी प्रबल प्रभाव था। इसके कारण काले लोगों को कदम-कदम पर अपमान के घूँट पीने पड़ते थे। नस्लवादी गोरे उनके साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार करते थे। अफ्रीकी-अमरीकी लोग अपने ही देश में नागरिक अधिकारों से वंचित, गुलामों की जिन्दगी जीने के लिए विवश थे। होटलों, सभागृहों, स्कूलों और अन्य सार्वजनिक जगहों पर उनके लिए पीछे की ओर से अलग प्रवेश द्वार हुआ करता था। दुकानों में उनके लिए अलग काउण्टर बने हुए थे। कहीं भी उन्हें गोरों के बराबर में बैठने की आजादी नहीं थी।

इस दोयम दर्जे के व्यवहार से काले लोग तंग आ चुके थे और एक सम्मानजनक जिन्दगी जीने की अदम्य इच्छा उनके बीच जन्म ले चुकी थी। वे कई रूपों में संगठित होकर अन्याय-उत्पीड़न का प्रतिरोध कर रहे थे। नस्लवाद विरोधी आन्दोलन क्रमशः एक निश्चित आकार ग्रहण कर रहा था।

ऐसे समय में स्वतःस्फूर्त रूप से एक चिंगारी सुलग उठी जिसने दावानल बनकर पूरे जंगल को अपने आगोश में ले लिया। वह चिंगारी थी– रोजा पार्क्स। अलाबामा के मॉण्टगोमरी शहर में, नस्लवादी पृथकतावाद के तहत, बसों में सिर्फ पीछे की 10 सीटों पर काले लोगों का अधिकार था। कुल 36 सीटों में से आगे की 10 सीटें गोरों के लिए आरक्षित थीं और बीच की 16 सीटों पर भी अघोषित रूप से उन्हीं का अधिकार था। जबकि बसों में सफर करने वाले लोगों में सिर्फ एक-तिहाई संख्या गोरों की थी।

1 दिसम्बर 1955 को रोजा अपना सिलाई का काम करके घर लौट रही थी। बस में चढ़ी तो पीछे की 10 सीटें भरी होने के कारण वह कुछ अन्य काले लोगों के साथ बीच वाली सीटों पर बैठ गयी। एम्पायर थिएटर के स्टॉप पर जब कुछ गोरे लोग चढ़े तो कोई सीट खाली नहीं होने के चलते उनको खड़े रहना पड़ा। नस्लवादी मानसिकता का हिमायती ड्राइवर, जेम्स ब्लेक, सीट छोड़ने के लिए काले लोगों पर चिल्लाने लगा। उसके अपमानजनक लहजे से सहमकर दो काले लोगों ने अपनी सीटें खाली कर दीं और वे अपमान का घूँट पीकर सर झुकाकर खड़े हो गये। लेकिन रोजा बैठी रही। वह इस तरह का अपमान पहली बार नहीं झेल रही थी। 12 साल पहले भी उसे बस से उतारा गया था। लेकिन तब से चीजें आगे बढ़ीं थीं। काले लोगों में विरोध की भावना प्रबल हो चुकी थी। रोजा का मन भी उस क्षण इस अपमान को झेलने से इन्कार कर रहा था। आये दिन काले लोगों के साथ होने वाली शर्मनाक घटनाएँ उसे याद आ रही थीं। उसके अन्दर विचारों का तूफान उठने लगा। उसकी आँखों के सामने उस 14 वर्षीय काले किशोर का चेहरा तैर गया जिसकी हत्या की गयी थी– सिर्फ इसलिए कि उसने एक गोरी लड़की को देखकर सीटी बजायी थी। विचारों का तूफान थमा और रोजा ने तय कर लिया कि नहीं! अब और नहीं सहेंगे! उसने अपने मन को मजबूत बना लिया। उसे इस बात की परवाह नहीं थी कि उसे क्या सजा दी जायेगी। इतिहास में कभी-कभी ऐसी घड़ी आती है जब एकदम साधारण लोग कोई असाधारण काम कर जाते हैं जो असंख्य लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। रोजा ने इस घड़ी में एक ऐसा ही कदम उठाया। पुलिस को बुलाने की धमकी दे रहे ड्राइवर से उसने शान्त, दृढ़ स्वर में कहा कि उसे जो करना हो वह कर ले।

रोजा को गिरफ्तार कर लिया गया। अफ्रीकी-अमरीकियों के अधिकारों के लिए संघर्षरत 'नेशनल एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेण्ट ऑफ कलर्ड पीपुल' (काले लोगों की प्रगति के लिए राष्ट्रीय संगठन) ने आम सभा बुलायी। सभा में यह निर्णय लिया गया कि मॉण्टगोमरी शहर में काले लोग बसों का बहिष्कार

करेंगे। काले लोग पैदल काम पर जाने लगे। 381 दिनों तक चले इस लम्बे बहिष्कार के दौरान उन्होंने तरह-तरह की मुश्किलें उठायीं लेकिन अपनी एकता भंग नहीं होने दी। गुलामी से छुटकारा पाने के लिए वे हर मुश्किल को झेलने के लिए तैयार थे। बस-बहिष्कार आन्दोलन के दौरान ही 26 वर्षीय लोकप्रिय प्रचारक मार्टिन लूथर किंग जूनियर का नेतृत्व उभरकर सामने आया। अमरीका के अन्य दक्षिणी राज्यों में लड़े जा रहे नस्लवाद विरोधी आन्दोलनों को भी इस आन्दोलन की ऊष्मा से जोश मिला। जगह-जगह काले लोगों ने सचेत रूप से पृथकतावादी नियमों का उल्लंघन किया; उनके लिए प्रतिबन्धित जगहों में घुसकर वे दृढ़ता के साथ गोरों के बराबर बैठने लगे। मॉण्टगोमरी में भी बड़ी संख्या में लोगों ने गिरफ्तारी दी। देखते-देखते इन छिटपुट संघर्षों ने मिलकर एक जबरदस्त 'नागरिक अवज्ञा आन्दोलन' का रूप ले लिया। इस आन्दोलन ने अमरीका के 'स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे' के नारे की सच्चाई को दुनिया के सामने बेपर्द कर दिया। काले लोगों के श्रम पर ऐश करके उन्हें समाज में बराबरी का दर्जा देने से इन्कार करने वाले गोरे शासकों के खिलाफ जनता का प्रबल प्रतिरोध शुरू हो गया।

संयुक्त राज्य अमरीका में उस समय चल रहा वियतनामयुद्ध विरोधी आन्दोलन और यह नागरिक अधिकार आन्दोलन दोनों मिलकर एक सशक्त व्यवस्था विरोधी संघर्ष बन गया जिसने फ्रांस में छात्र-मजदूर आन्दोलन को भी बल प्रदान किया।

मार्टिन लूथर किंग ने कहा था, ''बुराई का असहयोग उतनी ही बड़ी नैतिक जिम्मेदारी है जितनी कि भलाई का सहयोग।'' अमरीका के काले लोगों ने यही किया। यह बिल्कुल सच कहा गया है कि सबसे बड़ी ताकत वह विचार है जिसका समय आ गया है। 1964 तक आते-आते रंगभेद या नस्लीय पृथकतावाद पर आधारित सभी कानूनों को समाप्त कर दिया गया।

लेकिन सिर्फ कानूनी बदलावों से सामाजिक न्याय और बराबरी लाना सम्भव नहीं होता। इसके लिए विषमता के भौतिक आधारों को समाप्त करना जरूरी होता है। नस्लवाद का आधार था काले लोगों का साधनहीन और विपन्न होना। उनके पूर्वजों को गुलाम बनाकर अमरीका लाया गया था और उनसे पीढ़ियों तक जानवरों से भी बदतर परिस्थितियों में काम करवाया गया था। वे सिर्फ कानूनी बराबरी मिट जाने से समाज में बराबरी पर नहीं आ सकते थे। इसके लिए अर्थव्यवस्था में अपनी जगह बनाना जरूरी था। काले लोगों की मुख्य जीविका खेती थी लेकिन जमीन पर उनका मालिकाना हक नहीं था। उनकी गैरबराबरी का यह बहुत बड़ा कारण था और आज भी है।

दुनिया के इतिहास में आजादी और जनवाद का सवाल जमीन के मालिकाने के सवाल से जुड़ा रहा है। अमरीका भी इसका अपवाद नहीं। लेकिन काले लोगों के लिए जमीन पर मालिकाने का सवाल बस की सीटों पर उनके अधिकार से बहुत ज्यादा जटिल, कठिन और बड़ी समस्या थी। बसों में और रेस्तराओं में बराबरी पर बैठने से काले लोगों को रोकने के लिए हिंसा पर उतारू हो जाने वाले नस्लवादी और शक्तिसम्पन्न गोरे क्या जमीन पर अपने परम्परागत एकाधिकार को आसानी से छोड़ देते? यही लोग थे जिनके दादा-परदादा गुलामों के खून-पसीने से अपने हजारों एकड़ खेत आबाद करवाते हुए अमीर-उमरा बने थे। जमीन का सवाल, उत्पादन के साधनों पर काले लोगों के मालिकाने का सवाल बिना मुकम्मिल इन्कलाब के हल नहीं हो सकता था और न ही होगा। यही नागरिक अधिकार आन्दोलन की सीमा है। वह पूँजीवादी दायरे को लाँघने के लिए काले लोगों को प्रेरित नहीं करता है। पूँजीवादी व्यवस्था थोड़े से ही काले लोगों को अपने अन्दर समाहित कर सकती थी और उसने ऐसा किया भी। व्यवस्था में सम्मिलित काले लोगों की आकांक्षाओं का चरमोत्कर्ष कोण्डालीजा राइस और मैडलीन अलब्राइट के रूप में देखा जा सकता है। एक तरफ अमरीका के काले लोगों की आबादी के एक चौथाई लोग अपनी ज्यादातर जिन्दगी जेल की सलाखों के पीछे बिताते हैं और बाकी बचे लोग उनकी अलग बसी हुई गन्दी बस्तियों– ''घेट्टो'' में। वहीं दूसरी ओर, सत्ता के शीर्ष पर पहुँचे काले लोग बुश जैसे तानाशाहों के इशारों पर नाचते हुए अपने देश में भी काले लोगों का शोषण-दमन करते हैं और दुनिया भर में साम्राज्यवादी दमनचक्र चलाते फिरते हैं।

पूँजीवाद और नस्लवाद का रिश्ता हाल की दो घटनाओं में साफ-साफ दिखायी देता है। एक है अमरीका में आया कतरीना तूफान। इस दिल दहला देने वाली तबाही को सबसे ज्यादा गरीब कालों ने झेला था। यही वजह थी कि अमरीका के राष्ट्रपति आपदाग्रस्त इलाकों में एक हफ्ते बाद पहुँचे क्योंकि वे उस दौरान छुट्टी मना रहे थे। दूसरी घटना है फ्रांस में दुनिया भर से लाकर बसाये गये काले लोगों की बस्तियों से उठने वाली दंगों की लपटें। बेरोजगारों और अभावग्रस्त लोगों के इस स्वत:स्फूर्त विस्फोट ने फ्रांसीसी लोकतन्त्र की नस्लवादी सीमाओं को उजागर कर दिया। इन दंगों का केवल एक ही कारण था– काले लोगों का विकास के दायरे के बाहर हाशिए पर फेंक दिया जाना।

अमरीका और फ्रांस में ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में आज काले लोगों के आक्रोश के अनगिनत ज्वालामुखी धधक रहे हैं। जरूरत है ''नागरिक अधिकार आन्दोलन'' के एक नये संस्करण की जिसका लक्ष्य हर तरह की सामाजिक-आर्थिक विषमता को मिटाना हो। जब तक यह कार्यभार अधूरा रहेगा, रोजा पार्क्स जैसे दृढ़ निश्चयी और साहसी लोगों को दुनिया में याद किया

सामयिक प्रश्न

आतंकवाद

—आनन्द

आज दुनिया के तकरीबन सभी कोनों में आम आदमी आतंकवादी कार्रवाइयों से परेशान है। आतंकवाद वर्तमान विश्व की सबसे बड़ी सामाजिक समस्या बना हुआ है। अलग-अलग जगहों पर आतंकवाद से प्रभावित लोगों की संख्या कम या ज्यादा हो सकती है लेकिन टोकियो, शंघाई, सिंगापुर, दिल्ली, काबुल, बगदाद, कैरो, लन्दन, वाशिंगटन, लास ऐंजिलिस, सिडनी समेत दुनिया का कोई भी हिस्सा इस परेशानी से अछूता नहीं है। उत्तरी यूरोप के फिनलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे इत्यादि देशों को छोड़कर जो इस समस्या से बहुत कम प्रभावित हैं, लगभग पूरा विश्व ही आज आतंकवाद की चपेट में है।

भारतीय उपमहाद्वीप के सारे ही देश बहुत बुरी तरह से इस समस्या में उलझे हुए हैं।

आज की दुनिया में आतंकवाद सबसे चर्चित विषय है। 11 सितम्बर 2001 में न्यूयार्क स्थित विश्व व्यापार केन्द्र पर आतंकवादी हमले के बाद से संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, स्पेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और यूरोप के सभी देश और वहाँ के नागरिक लगातार आतंक के साये में जी रहे हैं।

आतंकवाद है क्या?

इस विषय को लेकर दुनिया का समाज काफी बँटा हुआ है। अलग-अलग लोग अलग-अलग राय रखते हैं। पक्ष और विपक्ष दोनों ओर लोगों की अच्छी खासी संख्या है। दोनों पक्ष एक दूसरे पर तोहमतें लगाते रहते हैं लेकिन दोनों ही के विचारों में स्पष्टता नहीं है। इसलिए सही और गलत के बीच की विभाजक रेखा कभी स्पष्ट नहीं हो पाती। ऐसे में इस समस्या के बारे में वस्तुनिष्ठ हो पाना और कठिन हो जाता है।

साम्राज्यवादी और पूँजीवादी विश्व का प्रचारतन्त्र अपने वर्गीय हितों को ध्यान में रखकर प्रिण्ट और इलेक्ट्रानिक समाचार माध्यमों के जरिये अपने विरोधियों के खिलाफ लगातार एक पक्षपातपूर्ण प्रचार की आँधी चलाता रहता है।

तीसरी दुनिया की सरकारें और प्रचार माध्यम भी लगातार आतंकवाद के खिलाफ प्रचार करते रहते हैं, हालाँकि तीसरी दुनिया की सरकारों तथा विश्व के विभिन्न देशों और राष्ट्रों के बीच भी इस मुद्दे को लेकर गहरे विभाजन मौजूद हैं। अपने वर्गीय स्वार्थों को लेकर वे हर मसले पर ही बँटे हुए हैं।

आतंकवाद के मुद्दे पर जनता में भी एक राय नहीं है, वह बहुत बुरी तरह बँटी हुई है। जनता के बीच से दोनों ही पक्ष मासूम लोगों की हत्याओं से दुखी होते हैं और सोचते हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिए। लेकिन देश, राष्ट्र और राष्ट्रीयताओं तथा अलग-अलग क्षेत्र, धर्म और वर्गीय स्थिति के कारण उनमें एकता कायम नहीं हो पाती। जनता के बीच तीखे विभाजन के कारण कई देशों में तो आज गृहयुद्ध जैसी स्थिति बनती दिखायी दे रही है।

लेकिन इस समस्या का अहसास बहुत कम लोगों को है। बहुत थोड़े लोग हैं जो इसे ठीक से समझ पाते हैं। इसलिए कोई भी पक्ष आज की स्थिति का एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन और विश्लेषण नहीं कर पा रहा है– आम लोगों की तो बात ही क्या, जो सक्षम हैं वे भी नहीं।

आतंकवाद को लेकर लोगों की उलझनें तब और भी बढ़ जाती हैं जब एक ही तरह के लोगों, संगठनों या उनकी कार्रवाइयों को एक देश की सरकार कभी ठीक तो कभी गलत बताने लगती है। उदाहरण के लिए पश्चिम की ज्यादातर सरकारें दक्षिण अफ्रीकी कांग्रेस के सर्वमान्य नेता नेल्सन मण्डेला को एक जमाने में आतंकवादी मानती थीं। बाद में पश्चिम की इन्हीं सरकारों–अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, फ्रांस आदि के यहाँ वे सरकारी अतिथि बनने लगे और उन्हें नोबेल शान्ति पुरस्कार से नवाजा गया।

ओसामा बिन लादेन, उमर और तालिबान जब तक रूस के खिलाफ लड़ रहे थे तब तक अमरीका और पश्चिमी देशों की सरकारों की नजर में ये अपनी आजादी के लिए लड़ने वाले योद्धा थे। इन्हें सी.आई.ए. ने ही पैदा किया, उसी ने पाला-पोसा और उसी के पैसे से इन्होंने अफगानिस्तान में रूस के खिलाफ युद्ध का संचालन किया। सत्ता में आने के बाद भी हमेशा अमरीका और पश्चिम की प्रमुख सरकारें तालिबान का समर्थन करती रहीं क्योंकि उन्हें उम्मीद थी कि तालिबान और पाकिस्तान की मदद से वे मध्य एशिया में अपने हाथ-पाँव फैला सकेंगी और रूस से आजाद हुए देशों को अमरीका की झोली में डाल सकेंगी। इस तरह रूस को एक कोने में धकेलकर अमरीका इन देशों के तेल क्षेत्रों पर अपना पूरा अधिकार जमा लेने का मन्सूबा बाँध रहा था।

लेकिन 11 सितम्बर की घटना के बाद तालिबान आतंकवादी हो गये। पिछले 200 सालों में अमरीका ने ऐसे बहुत सारे आतंकवादी लोगों और संगठनों को पैदा किया है और जनान्दोलनों का गला घोंटा है। निकारागुआ में सी.आई.ए. के पैसे पर लड़ने वाले कोण्ट्रा आतंकवादी इसके पहले सबूत हैं। चेचन्या के आतंकवादी अब तक रूस में अबोध लोगों, औरतों और बच्चों की हत्याएँ करते रहे हैं, लेकिन अमरीका और पश्चिम की सरकारें उन्हें आतंकवादी मानने के बजाय आजादी के लिए लड़ने वाले बहादुरों के रूप में स्वीकार करती हैं, उन्हें अपने यहाँ शरण देती हैं और रूस के समक्ष मानवाधिकारों का प्रश्न उठाती हैं। परन्तु

रूस की नजरों में ये आतंकवादी हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में देखें तो पाकिस्तान की सरकार ने कश्मीर समस्या को अपने पक्ष में हल करने के लिए आतंकवादी संगठनों का निर्माण किया, तालिबान की मदद की और इन सबको इन्साफ, इन्सानियत और आजादी के लिए जंग करने वाले सूरमाओं की तरह प्रस्तुत किया। लेकिन 11 सितम्बर की घटना के बाद जब बुश ने मुशर्रफ से टेलीफोन पर पूछा कि दोस्त या दुश्मन, तो मुशर्रफ का जवाब था– दोस्त! और तब से पाकिस्तान की जमीन और पाकिस्तान की सेना इस्तेमाल के लिए अमरीका के हवाले कर दी गयी। बाद में जब ये आतंकवादी पाकिस्तान में मुशर्रफ की जान के पीछे पड़ गये तो उसकी नजर में भी वे आतंकवादी हो गये और मुशर्रफ दुनिया से उनका नामोनिशान मिटा देने की बातें करने लगे।

हमारे अपने देश भारत में पंजाब के अकालियों से निपटने के लिए कांग्रेस सरकार ने सन्त भिण्डरावाला को खड़ा किया। बाद में यही भिण्डरावाला भारत सरकार की नजरों में आतंकवादी हो गया। इसी तरह श्रीलंका में भारत सरकार ने पहले तमिल टाइगर्स की मदद की लेकिन राजीव गाँधी की हत्या के बाद वही प्रभाकरन आतंकवादी हो गया।

अमरीका और पश्चिम की बहुतेरी सरकारें 'फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन' और यासिर अराफात को पहले आतंकवादी मानती थीं। बाद में जब वह सत्ता में आ गये तो उन्हें और उनकी सरकार को ओस्लो में हुए समझौतों के बाद कई देशों ने मान्यता दे दी। फिलिस्तीन के सवाल पर दुनिया की सरकारें पहले से ही बँटी हुई थीं और आज भी उनके बीच एक राय नहीं है।

हमारे अपने देश में और दुनिया भर में ऐसे 2-4 नहीं, हजारों उदाहरण दिये जा सकते हैं। कल के आतंकवादी सरकारों द्वारा बातचीत के लिए बुलाये जाते हैं, युद्ध विराम और समझौतों के बाद वही आतंकवादी सरकार बना लेते हैं और फिर वे तय करने लगते हैं कि कौन आतंकवादी है और कौन नहीं? ऐसे में लोगों के लिए यह समझना मुश्किल हो जाता है कि दरअसल आतंकवादी कौन है और आतंकवाद का मतलब क्या है?

ज्यादातर जगहों पर जनता आतंकवाद के दमन में लगी सरकारों के आतंक से आतंकवादियों के आतंक की तुलना में ज्यादा नहीं तो कम तो कतई परेशान नहीं है।

ऐसे में आतंकवाद की समस्या पर एक सर्वमान्य राय बनाना या इसके कारणों की तह में जाना और इस समस्या के समाधान की ओर अग्रसर होना बहुत ही कठिन है।

किसी कार्य की सिद्धि के लिए या किसी उद्देश्य को हासिल करने के लिए जब अलग-थलग और छिटपुट हिंसा का सहारा लेकर आतंक की सृष्टि की जाये और इसे एक साधन और कार्यदिशा के तौर पर इस्तेमाल किया जाये, तो इसे आतंकवाद कहा जाता है।

सामान्यतया आतंकवादी समूहों की प्रेरक शक्ति इन्साफ हासिल करना होती है। उनके सामने एक यूटोपिया (आदर्शलोक) होता है जिसे वे हासिल करना चाहते हैं।

जारशाही के जमाने में लम्बे समय तक रूस में आतंकवादी सक्रिय रहे। जारशाही के खिलाफ जनवाद और एक नये समाज के निर्माण के लिए संघर्ष उनकी प्रेरक शक्ति थी।

पहले आयरलैण्ड के लोग और बाद में उत्तरी आयरलैण्ड के लोग लम्बे समय तक ब्रिटेन के खिलाफ अपनी आजादी के लिए लड़ते रहे। इनमें से कुछ लोगों ने आतंकवाद का रास्ता भी अपनाया लेकिन उनकी भावनाएँ पवित्र थीं, उनकी आत्मा पाक-साफ थी।

हमारे देश में अनुशीलन से लेकर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी तक आतंकवाद की एक लहर लगातार चलती रही। ये सभी संगठन ब्रिटिश उपनिवेशवाद से देश को आजाद कराना चाहते थे। बाद में इनके आदर्शों में समाजवाद भी शामिल हो गया।

आज भी भारत के अलग-अलग हिस्सों में अलग-अलग उद्देश्यों को लेकर लड़ने वाले आतंकवादी संगठन और समूह मौजूद हैं। इनके अपने-अपने यूटोपिया हैं, जिनके लिए वे लड़ रहे हैं। किसी का यूटोपिया लोकतन्त्र और आजादी का निर्माण करना है, किसी का उद्देश्य समाजवाद का निर्माण करना है, तो कोई मध्ययुग के काल्पनिक और मनमोहक समाज की पुनर्स्थापना करना चाहता है।

दुनिया का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

आतंकवादी बहादुर और साहसी होते हैं, वे पवित्र आत्मा से अपने उद्देश्यों के लिए लड़ते हैं, इसलिए वे जनता के जिस हिस्से के सपनों के लिए लड़ते हैं उस जनता का बहुत थोड़ा सक्रिय समर्थन और ज्यादा निष्क्रिय समर्थन भी इन लोगों को मिलता है। बहादुरी के लिए वह इनकी पूजा करती है। आतंकवादी संगठनों ने हजारों महान आत्माओं को जन्म दिया है जिन्हें जनता आज भी श्रद्धा और आदर के साथ याद करती है।

हमारे देश में भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद आज भी नौजवानों के हीरो हैं। समूचा भारत आदर और श्रद्धा से उनका नाम लेता है और उनकी समाधियों पर मेले लगते हैं।

आतंकवाद जनता को संगठित करने, गोलबन्द करने और अपने पवित्र उद्देश्य के लिए उसे हर तरह के संघर्षों में उतारने में यकीन नहीं करता। इसके बजाय वह कुछ साहसी, बहादुर

जब तक गरीबी है, गरीबी रेखा के नीचे जी रहे लोग हैं, तब तक किसी न किसी तरह का आतंकवाद रहेगा। यदि एक तरफ समृद्धि और दूसरी तरफ गरीबी है तो आतंकवाद की समस्या हल नहीं होगी।

राष्ट्रपति, ए.पी.जे. अब्दुल कलाम
(*दहिन्दू*, 1 फरवरी 2006)

और अपने उद्देश्य के लिए जान हथेली पर लेकर काम करने वाले नौजवानों को अलग-अलग दस्तों के रूप में संगठित करता है, स्थापित व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश से भरा होता है और उतावलेपन का शिकार होता है।

सभी आतंकवादी संगठनों की प्रेरक शक्ति इन्साफ पर आधारित व्यवस्था और समाज की स्थापना करना होती है लेकिन इन्साफ के बारे में उनकी अवधारणा और यूटोपिया अलग-अलग विचारधारा और एक ही विचारधारा के अलग-अलग रंगों और आभाओं के हिसाब से अलग-अलग होते हैं। मूलत: और मुख्यत: वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए नहीं लड़ते, इसीलिए जनता उन्हें प्यार और सम्मान के साथ देखती है।

इतिहास में कभी भी आतंकवाद किसी उद्देश्य और सपने को पूरा करने का माध्यम नहीं बन सका और हमेशा व्यवस्था द्वारा पराजित हुआ है। वह जनता को जागृत, गोलबन्द और संगठित करने का काम नहीं कर सकता। जबकि यह एक सर्वविदित सच्चाई है कि चन्द वीरनायक नहीं बल्कि जनता ही इतिहास का निर्माण करती है। अगर जनता की चेतना ने उसे एक मुट्ठी में बाँध दिया हो तो वह अपनी समवेत शक्ति से अपने यूटोपिया को जमीन पर उतार सकती है।

इस काम में जनता को नेताओं की हमेशा जरूरत होती है लेकिन वे तभी कामयाब हो सकते हैं जब वे जनसमुद्र में उठने वाली परिवर्तन की प्रबल लहरों के साथ फेन की तरह मिले हों। जनता की चेतना से बहुत आगे बढ़कर कुछ-एक नेताओं या उत्साही और बहादुर लोगों का समूह अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकता।

* * *

जीवन और इतिहास निरन्तर गतिमान हैं। जीवन निरन्तर नयी-नयी चीजों को पैदा करता रहता है। इतिहास में जब कोई चीज या परिघटना पैदा होती है तो लोगों के बीच उसके बारे में अवधारणाएँ और विचार बनते हैं लेकिन वह नयी चीज या परिघटना भी स्थिर नहीं होती बल्कि निरन्तर विकासमान होती है। उसकी अवधारणा, उसके अर्थ, उसका तात्पर्य सब कुछ बदलता रहता है। ऐसे में पुरानी परिभाषाएँ सही बोध नहीं दे पातीं। पुराने सिद्धान्तों के खाँचे से गतिमान जीवन का मेल नहीं बैठ पाता। इसलिए निरन्तर नयी-नयी परिभाषाओं और नये-नये सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ती है और उनका सृजन होता रहता है।

आतंकवाद के साथ भी कुछ ऐसा ही है। इस शब्द के गूढ़ अर्थ काफी बदल चुके हैं। एक-दो उदाहरणों के जरिए यहाँ अपनी बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

सारे अरब देश लम्बे समय से इजराइल के आतंक के साये में जी रहे हैं। इजराइली राज्य आपादमस्तक आधुनिक हथियारों से सुसज्जित है, उसके पास नाभिकीय हथियार भी हैं। सभी जानते हैं कि उसे हथियारों से सुसज्जित करने वाला और नाभिकीय हथियार देने वाला कौन है। अमरीकी साम्राज्यवाद ने अपने फायदे के लिए उसे हथियारों से सुसज्जित किया है। अमरीका इजराइल को उस हलके में अपना दरोगा (cop on the beat) कहता है क्योंकि ऐन जरूरत के वक्त अरबों के तेल का अमरीका की ओर प्रवाह इजराइल के दम पर ही सुरक्षित है। एक उद्धत साँड़ की तरह वह कभी भी, कहीं भी आक्रमण कर देता है। इस सन्देह में कि इराक परमाणु हथियार बना सकता है, इजराइल ने 1981 में उसके नाभिकीय संयन्त्र पर हमला करके उसे तबाह कर दिया था और अब ईरान को भी लगातार धमकी दे रहा है कि वह उसके नाभिकीय संयन्त्रों को भी तबाह कर देगा। यह किसकी शह पर किसके फायदे के लिए हो रहा है, सारी दुनिया जानती है। क्या इजराइल और अमरीका आतंकवादी नहीं हैं?

आतंकवाद की परम्परागत अवधारणा के मुताबिक ये उसके नकारात्मक पक्ष या उसके नापाक पहलू का, यानी हिंसा के सहारे कार्यसिद्धि करने का, प्रतिनिधित्व करते हैं, उसके पाक और सही पक्ष का नहीं।

अमरीका 1648 में सम्पन्न वेस्टफालिया के समझौतों को अस्वीकार कर रहा है और कहता है कि वह राष्ट्र की सीमाओं को मान्यता नहीं देता। वह जब चाहे, जहाँ चाहे अपनी मर्जी और स्वार्थ के लिए हमला कर सकता है और हमेशा वही सही होगा। कूटनीतिक शब्दावली में जिसे वह आजादी (freedom) कहता है वास्तव में वे उसके स्वार्थ हैं। अमरीका के हिसाब से पिनोचे के चिली में सबसे ज्यादा आजादी थी और मानवाधिकारों का सम्मान होता था। इण्डोनेशिया के सुहार्तो और कांगो के मोबुतू जैसी तमाम निरंकुश सरकारें भी उसकी परिभाषा के मुताबिक आजादी की समर्थक थीं। अमरीका द्वारा गढ़ी जा रही इन परिभाषाओं के पीछे दुनिया पर वर्चस्व कायम करने और धरती, पानी और आसमान का पूरा मालिक बन जाने का उसका घृणित कुत्सित मन्सूबा छिपा हुआ है।

इराक की तबाही की कुल लागत

नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री और अमरीका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में बजट विशेषज्ञ जोसेफ स्टिगलिट्ज ने हिसाब लगाया है कि पिछले ढाई सालों से जारी इराक युद्ध में अमरीका का वास्तविक खर्च लगभग 1,854 बिलियन डालर है। (*दहिन्दू*, 8 जनवरी 2006।)

बिलियन हमारे यहाँ के अरब के बराबर होता है। यानी अभी तक अमरीका इराक युद्ध में 1,854 अरब डालर या लगभग 79,433 अरब रुपये झोंक चुका है। यह रकम दक्षिण एशिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था भारत के सकल घरेलू उत्पाद के ढ़ाई गुने और भारत सरकार के 2005 के कुल बजट के 15 गुने से भी ज्यादा है। अन्दाजा लगायें कि अपने घृणित साम्राज्यवादी मन्सूबों की पूर्ति के लिए एक देश को तबाह करने पर अमरीका कितनी बड़ी रकम पानी की तरह बहा रहा है।

अफगानिस्तान और इराक में आधुनिकतम हथियारों का प्रदर्शन और इस्तेमाल करके क्या उसने आतंक की सृष्टि करने का प्रयास नहीं किया? बुश और उसका अपराधी गिरोह आज दुनिया भर में आतंक और हिंसा का सहारा लेकर अपने कुत्सित इरादों को पूरा करने की कोशिश कर रहे हैं। यह दीगर बात है कि इस नापाक इरादे को पूरा करने में वे सफल नहीं हो पा रहे हैं।

सच तो यह है कि आज बुश और उसका अपराधी गिरोह और उसके ''कभी न डूबने वाले विमानवाही पोत'' (Never Sinking Aircraft Carrier) का अपमानित, लांछित और कलंकित कप्तान ब्लेयर दुनिया के सबसे बड़े आतंकवादी हैं। बुश और ब्लेयर के सन्दर्भ में आतंकवाद का वही अर्थ और तात्पर्य लिया जाना चाहिए जो वे अपने प्रचार माध्यमों द्वारा आतंकवादियों के खिलाफ घृणा पैदा करने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

आज जरूरत इस बात की है कि आतंकवाद को नये सिरे से परिभाषित किया जाय, उसकी अवधारणा को आज के यथार्थ के अनुरूप बनाया जाय और उसके सही तात्पर्य को समझने का प्रयास किया जाय।

इस दिशा में हमारा यह छोटा सा प्रयास।

* * *

अतीत से चली आ रही परम्परागत अवधारणा को आधार बनाकर दो शब्द।

जब कोई निरंकुश सामाजिक व्यवस्था बहुत मजबूत होती है, मुट्ठीभर लोगों या वर्गों के संकीर्ण स्वार्थ का ही प्रतिनिधित्व करने लगती है, जब सरकारें बिल्कुल बहरी और मोटी चमड़ी की होती हैं, जनता की रंचमात्र भी फिक्र नहीं करतीं, उसके सुख-दुख से उन्हें कोई लेना-देना नहीं होता, लोकतन्त्र या तो होता ही नहीं या नाम मात्र का, दिखावा और छलावा जैसा होता है, जब जनता के संगठित आन्दोलन नहीं होते, संघर्षरत संगठनों का अभाव होता है और जनक्रान्तियाँ दृश्यमान नहीं होतीं, ऐसे में उत्साही नौजवान और उनका समूह आक्रोश और उतावलेपन में आतंकवाद का सहारा लेते हैं। इससे जनता की समस्याओं का समाधान तो नहीं हो पाता लेकिन समाज में व्याप्त उमस के घने बादल थोड़े जरूर छँटते हैं और दमघोंटू वातावरण से जनता को थोड़ी राहत मिलती है।

हम आज एक ऐसे ही दौर में जी रहे हैं। सामयिक तौर पर समाजवादी यूटोपिया पराजित हुआ है, काफी हद तक देश आजाद हो चुके हैं और राष्ट्र मुक्ति हासिल कर चुके हैं, समाज ठहर सा गया है। अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवाद का आतंक और प्रभुत्व बढ़ा है, जनता से उसके अधिकार छीने जा रहे हैं, आर्थिक-राजनीतिक- सामाजिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में एक पतनशील संस्कृति को प्रोत्साहित और प्रचारित किया जा रहा है और साम्राज्यवादी और मध्ययुगीन मूल्यों की प्रतिष्ठा की जा रही है। अमरीकी साम्राज्यवाद विश्व पर आधिपत्य जमाकर रोमनों की तरह अपना साम्राज्य कायम करना चाहता है। अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी समूह तीसरी दुनिया की जनता पर एक के बाद एक कहर बरपा कर रहा है, और उसका अबाध शोषण कर रहा है।

एक ऐसी निरंकुश विश्वव्यवस्था में दुनिया को आतंकवाद से निजात नहीं मिल सकती। आतंकवाद इस व्यवस्था के खिलाफ सताए लोगों द्वारा किया गया प्रतिवाद है, छिटपुट ही सही, व्यवस्था से संघर्ष है। जहाँ जंगलराज कायम हो और जनता के संघर्षों का नेतृत्व करने वाले और उसे संगठित करने वाले रहनुमाओं का अभाव हो, सरकारें क्रूर से क्रूरतम होती जा रही हों और जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने का वादा करके जनता के चुने हुए प्रतिनिधि ही बार-बार उसे धोखा दे रहे हों, जहाँ जनता की समस्याओं के हल के लिए कोई संगठित आन्दोलन और संघर्ष दिखायी न देते हों और समाजवादी यूटोपिया के खिलाफ निरन्तर कुत्सा प्रचार करके उसके बारे में भ्रम फैलाने के प्रयास हो रहे हों, वहाँ आतंकवाद के अलावा और हो भी क्या सकता है। आतंकवाद की जड़ें इन समाजों में बहुत गहरे तक पैठी हुई हैं।

ऐसे कठिन समय में आतंकवाद के बहुत से रंग होना स्वाभाविक है। हर तरह का आतंकवाद, चाहे वह जहाँ कहीं भी चलन में है, किसी न किसी तरह का व्यवस्था विरोध है। उसमें इन्साफ की पक्षधरता है। भले ही उसके झण्डे पर कोई भी नारा क्यों न लिखा हो, भले ही उसका यूटोपिया भ्रमपूर्ण ही क्यों न हो।

यह व्यवस्था आतंकवाद को भी अपने घृणित मन्सूबों के लिए साधन बना रही है और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस उलझन भरे दौर में आतंकवादियों का उनके दुश्मन और प्रतिक्रियावादी इस्तेमाल कर लें।

आतंकवाद की समस्या का समाधान और सही विकल्प जनक्रान्तियाँ ही हो सकती हैं जिनकी कार्यसूची पर एक नये समाज का निर्माण करना और जनता का लोकतन्त्र कायम करना हो, एक ऐसा समाज जिसकी अपनी अन्तर्निहित गति में ही उसके निरन्तर आगे बढ़ने का गुणधर्म हो। जब जनता के संगठित संघर्ष और जनक्रान्तियाँ क्षितिज पर दिखायी देने लगेंगी तभी और केवल तभी आतंकवाद खत्म हो सकेगा।

वर्तमान विश्व में अमरीकी साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी समूहों की मौजूदगी और तीसरी दुनिया की बहुलांश सरकारों के प्रतिक्रियावादी चरित्र के कारण किसी मौलिक परिवर्तन की उम्मीद करना भ्रमपूर्ण होगा। इनसे भलमनसाहत की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। इसलिए किसी न किसी तरह के आतंकवाद का लगातार पैदा होते रहना स्वाभाविक है।

आतंकवाद के उन्मूलन के लिए जनता को जनक्रान्तियों का इन्तजार करना होगा। p